# निबंध-निचय

गंगा-पुस्तकमाला का छप्पनवाँ पुष्प

# निबंध-निचय

[ चुने हुए साहित्यिक निबंध ]

लेखक

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

[illegible]सीदास और विचित्र वीर के रचयिता ]

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

२९, लाटूश रोड

लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

सजिल्द १॥) ] सं० १९९० वि० [ सादी १)

प्रकाशक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

लखनऊ

मुद्रक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस

लखनऊ

# वक्तव्य

पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी हिंदी के प्रसिद्ध लेखक और व्रज-भाषा के सुकवि हैं। समय-समय पर आपके लेख भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहते हैं। 'भारत-मित्र' पत्र से आपका विशेष संबंध था, और उसमें हास्य-विनोद-पूर्ण लेख आप प्रायः लिखा करते थे। आप बँगला-भाषा के भी अच्छे विद्वान् हैं, और उक्त भाषा की कुछ पुस्तकों का सुंदर अनुवाद भी आपने किया है। चतुर्वेदीजी 'समालोचक' भी हैं। आपको व्रजभाषा की कविता से बड़ा प्रेम है। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन पर आपकी पूर्ण कृपा रहती है। एक बार लाहौर में आप उसके सभापति भी हो चुके हैं। आपकी मौलिक पुस्तकें भी छपी हैं। चतुर्वेदीजी हास्य-रस में शराबोर लेख बड़ी सफलता के साथ लिखते हैं। सच तो यह है कि आप मूर्तिमान् हास्य-रस हैं। आपका स्वभाव बड़ा ही सौम्य है। आप सहृदय, मिष्टभाषी और मिलनसार पुरुष हैं। बंगाल में हिंदी का प्रचार करने में आपने बड़ा उत्साह दिखलाया है। हिंदी-सेवा के लिये ईश्वर आपको चिरजीवी करे।

प्रस्तुत पुस्तक—'निबंध-निचय'—में पं० जगन्नाथप्रसादजी चतु-र्वेदी के सात निबंधों का संग्रह है। पहला निबंध सबसे छोटा, केवल ४ पृष्ठ का है, और अंतिम सबसे बड़ा, ८८ पृष्ठ का। पहला प्रयाग के 'अभ्युदय' पत्र में प्रकाशित हो चुका है, तथा अंतिम आपका वह अभिभाषण है, जो आपने बिहार के प्रादेशिक साहित्य-सम्मेलन के मंच पर—सभापति की हैसियत से—पढ़ा था। शेष पाँच निबंध क्रम से प्रयाग, जबलपुर, इंदौर और बंबई में होनेवाले साहित्य-सम्मेलनों के अधिवेशनों में पढ़े गए थे। इन निबंधों में संवत् १९६८

के पहले का कोई निबंध नहीं है। 'निबंध-निचय' में संगृहीत नि
में हिंदी के व्याकरण और व्रजभाषा-कविता के सौंदर्य पर
प्रकाश डाला गया है। चतुर्वेदीजी ने 'अनुप्रास का अन्वेषण'-
एक निबंध साहित्य-सम्मेलन में पढ़ा था। लोगों ने उसे बहुत
किया था। यहाँ तक कि वह कई परीक्षाओं के पाठ्य-क्रम में भी
गया था। उक्त निबंध भी प्रस्तुत पुस्तक में संगृहीत है।

अँगरेज़ी-साहित्य में प्रसिद्ध लेखकों के छोटे-छोटे निबंधों का
आदर किया जाता है। कभी-कभी तो बड़ी रचनाओं से भी
निबंधों को अधिक महत्त्व देते हैं। यही कारण है कि अँगरेज़ी
निबंध-साहित्य ख़ूब उन्नत और परिपुष्ट है। हिंदी में अभी नि
का पर्याप्त आदर नहीं है। फिर भी लोक-रुचि का झुकाव
निबंध-साहित्य की ओर भी हो रहा है, और हिंदी के प्रसिद्ध लेख
की निबंधावलियाँ क्रमशः निकल रही हैं। यह बड़े ही सौभाग्य
बात है। हम भी इस 'निबंध-निचय' को इसी उद्देश्य से निक
रहे हैं कि हिंदी के निबंध-साहित्य की उन्नति हो, और इस प्र
के साहित्य-निर्माण में पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी ने जो कुछ
किया है, वह सुरक्षित रहे। साथ ही यह भी कि वर्तमान तथा भ
ष्यकाल के लेखकों को उससे शिक्षा और प्रोत्साहन मिले। य
अपने इस उद्देश्य में आंशिक रूप से भी सफल हो सके, तो ह
निबंध-साहित्य को और भी अधिक परिमाण में प्रकाशित करने
उद्योग करेंगे। आशा है, हिंदी-साहित्य-संसार 'निबंध-निचय'
अपनाकर साहित्य-सेवा के मार्ग में और भी द्रुत गति से अग्रस
होने का हमें अवसर देगा। तथास्तु।

लखनऊ }
[illegible] } दुलारेलाल भार्गव

;

# धन्यवाद

**( द्वितीय संस्करण पर )**

यू० पी० के विशेष-योग्यता के कोर्स में यह पुस्तक रख देने के लिये हम यहाँ की टेक्स्ट-बुक-कमेटी को धन्यवाद देते हैं, और अन्यान्य प्रांतों की टेक्स्ट-बुक-कमेटियों और अन्यान्य शिक्षा-संस्थाओं से प्रार्थना करते हैं कि वे भी इसे अपने यहाँ मनोनीत करें।

कवि-कुटीर, लखनऊ ;
१—१—२४

संपादक

# विषय-सूची



---

# निबंध-निचय

——:o:——

## विचारणीय विषय*

इस शीर्षक का एक लेख गत ज्येष्ठ शुक्ल १२ के 'अभ्युदय' में 'एक हिंदी-प्रेमी' के नाम से निकला है। सारदा बाबू की तरह 'प्रेमी' महाशय भी हिंदी-भाषा के विभक्ति-प्रयोग और लिंग-भेद को दूरीकृत करने के परमाभिलाषी मालूम होते हैं। आप लोगों की धारणा है कि हिंदी-भाषा में यही बड़ा भारी काठिन्य है। यही काठिन्य हिंदी के राष्ट्र-भाषा होने में बाधा डालता है। इसके कारण इतर भाषा-भाषी ही नहीं, हिंदी-भाषा-भाषी भी निन्नानवे के फेर में पड़े हैं। अपनी बात को पुष्ट करने के लिये प्रेमीजी ने हिंदी के पत्र-संपादकों और लेखकों की रचनाओं से कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत किए हैं, जिनमें लिंगों की गड़बड़ के सिवा 'ने' विभक्ति की भी खूब ही छीछालेदर हुई है। इन्हीं वाक्यों की दुहाई देकर आप हिंदी को इस दोष से मुक्त करने की सलाह देते हैं।

परंतु अफ़सोस है, आपकी इस सुंदर सम्मति को मानने के

* आषाढ़-शुक्ल ३, संवत् १९६८ के 'अभ्युदय' में प्रकाशित।

उसकी सुशिक्षा का प्रबंध करना चाहिए। शिक्षा के प्रताप से भारतवासी अँगरेज़ी-जैसी दुरूह भाषा सीखकर जब अँगरेज़ों के भी कान काटते हैं, तो हिंदी उनके लिये क्या चीज़ है। शिक्ष का प्रबंध होने से हिंदी तो अनायास आ जायगी। मेरी राय में एक ऐसी समिति बना ली जाय, जिसके सभासद् हिंदी के दो र मर्मज्ञ विद्वान् हों। इसका काम वर्ष में एक या दो बार हिंद : परीक्षार्थियों की परीक्षा लेकर प्रशंसा-पत्र देना हो। जिसके स इस समिति का प्रशंसा-पत्र हो, वही हिंदी का वास्तवि वेद्वान् और लेखक समझा जाय। इन्हीं परीक्षोत्तीर्ण लोगों में त्र-संपादक भी नियुक्त हुआ करें। यह नियम हो जाने से हिं ी लिखावट में जो गड़बड़झाला आजकल दिखलाई देता है इ न रहेगा। हमें आलस्य त्यागकर उद्योग करना चाहिए हेंदी का अंगच्छेद करने के बदले उसकी शिक्षा का प्रबंध कर ही अधिक समीचीन है।

एक बात और कहकर इस लेख को समाप्त करता हूँ। प्रे जी कहते हैं—"बाबू हरिश्चंद्र ने अपनी पुस्तकों में 'पृ गई दिखला दिया' आदि वाक्य लिखे हैं। पंडित बालकृ भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जन्म हुआ। आ...

* संवत् १९६८ में प्रयाग के द्वितीय हिंदी-साहित्य-स कहा गया।

अधिक प्रचार हुआ। आपने मानो इसमें जान डाल दी
आजकल जिस हिंदी में हम लिखते-पढ़ते हैं, तथा समाचारप
निकलते और पुस्तकें बनती हैं, वह भारतेंदुजी की ही चलाई है
यदि भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जन्म न होता, तो हिंदी जहां
की-तहाँ विलीन हो जाती, और आज मुझे इसकी वर्तमान
अवस्था पर निबंध लिखने का अवसर न मिलता।

लल्लूलालजी ने हिंदी का जो नया मार्ग निकाला था, उसे
राजा लक्ष्मणसिंह ने साफ-सुथरा किया, और भारतेंदु स्वयं
उस पर चले, तथा औरों को भी उन्होंने अपना साथी बनाया।
यों कहिए कि लल्लूलाल ने हिंदी की मूर्ति गढ़ी, राजा लक्ष्मण-
सिंह ने उसे खराद पर चढ़ाया, और भारतेंदु ने उसमें केवल
प्राण-संचार ही नहीं किया, प्रत्युत उसे वस्त्रालंकार से भ
भी किया। इसी से भारतेंदुजी वर्तमान हिंदी-साहित्य
जन्मदाता कहे जाते हैं।

अस्तु। हिंदी की दो अवस्थाएँ हैं—बाहरी और भीतरी।

## बाहरी अवस्था

बाहरी अवस्था तो संतोषजनक है। इसका प्रचार इस सम
देशव्यापी हो रहा है। हलक से बोलनेवाले अरब, चीं-च
करनेवाले चीनी, विचित्र बोली बोलनेवाले मद्रासी और अजी
लहजावाले पंजाबी, ये सब हिंदी ही में अपने-अपने मन व
भाव प्रकट करते हैं। बंगाल में भी हिंदी का प्रचार बढ़त
जाता है। वहाँ के नाटककार तथा उपन्यास-लेखक अपनी

अपनी पुस्तकों में, चाहे जिस कारण से हो, हिंदी को बहुधा स्थान देते हैं। इस काम में वे हिंदी-भाषा-भाषियों से सहायता नहीं लेते। वे स्वयं हिंदी लिखकर प्रसन्न होते, कहते हैं कि 'आमी वेश हिंदी लिखी' अर्थात् मैं अच्छी हिंदी लिखता हूँ। वे गद्य ही नहीं, पद्य भी लिखते हैं। नमूने के लिये एक गीत नीचे उद्धृत किए देता हूँ। यह ऐसे-वैसे आदमी का नहीं, बंगाल के 'नटकुल-चूड़ामणि' स्वयं बाबू गिरीशचंद्र घोष का बनाया है। वह गीत सुनिए—

"राम रहीम ना जुदा करो,
दिल को साँचा राखो जी;
हाँ जि, हाँ जि करते रहो,
दुनियादारी देखो जी।
जब येसा तब तेसा होवे,
सदा मगन में रहेना जी;
मद्दि में ईमा बदन बनि हाथ,
ईयाद हर दम राखना जी।
जब तक सेको फरक रहो भाई,
इस इस काम में माना जी;
केया जाने कब दम छुटेगा,
उसका नेहि ठिकाना जी।
दुशमन तेरा साथ फिरता,
देखो भाई, सब उसको जी;

दुश्मन है बंधाने उनके,
उन बिन हाथ नहीं कोई जी।"

(

यह तो हुआ पद्य। अब ज़रा गद्य की भी
दीजिए। सरकस के विज्ञापनों में यह लिखते हैं-
पहलवान घोड़ा का पीठ में नई-नई तमाशा और खे
इत्यादि।" वह शुद्ध हिंदी लिखते हैं या अशुद्ध,
का मेरा उद्देश्य यहाँ नहीं है। मेरा कहना केवल यह
हिंदी लिखते हैं, और हिंदी का उनमें प्रचार है;—
सही, लेकिन लिखते तो हैं। भगवान् चाहेगा, तो
भी लिखने लगेंगे। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि
लोग अपनी पुस्तकों में पंजाबी, गुजराती, तेलगू आदि
को स्थान न देकर हिंदी को ही क्यों देते हैं! इसका कारण
है कि हिंदी सरल भाषा है। इसे अनायास सीखकर
अपना काम निकाल लेते हैं, और भाषाओं में यह बात
है। इसके सिवा इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि
हिंदी को ही शायद राष्ट्र-भाषा होने के योग्य समझते हैं; क्योंकि
अधिकांश भारतवासी ऐसा ही समझते हैं, और उसके लिये
चेष्टा भी कर रहे हैं।

प्रत्येक प्रांत के विद्वान् इसकी

ना था। स्वर्गीय रमेशचंद्रदत्त ने वहाँ अपने भाषण में हा था—

"If there is a language, which will be accepd in a larger part of India, it is Hindi."

अर्थात् यदि ऐसी कोई भाषा है, जो भारत के अधिकांश ग में स्वीकृत हो सकेगी, तो वह हिंदी है। हिंदी-परिषद् के पपति बंबई के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉक्टर भंडारकर ने भी हा था—

"The honour of being made the common nguage for inter-communication between rious provinces must be given to Hindi. ere does not seem to be much difficulty make Hindi accepted by all throughout dia."

अर्थात् भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों को आपस में बातचीत ने के लिये साधारण भाषा होने का गौरव हिंदी को अवश्य मिलना चाहिए। भारतवर्ष में सर्वत्र हिंदी का प्रचार करने मुझे अधिक कठिनाई दिखलाई नहीं देती।

ग्वालियर के भूतपूर्व न्यायाधीश ( चीफ़ जस्टिस ) राव-दुर चिंतामणि विनायक वैद्य, एम्० ए०, एल्-एल्० बी० कहा—

"Hindi is from every point of view by far the

most suitable language to be selected as the *Lingua-Franca* of India."

अर्थात् हिंदी ही सब प्रकार से भारत की राष्ट्र-भा[illegible] के योग्य है।

वंग-भाषा के प्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय राय बंकिमचंद्र बहादुर अपने 'बंगदर्शन'-नामक मासिक-पत्र के पाँचवें बंगालियों को संबोधन कर लिखते हैं—

"इँराजी-भाषा द्वारा याहा हउक किंतु हिंदि-शिक्षा ना [illegible] कोनो क्रमेई चलिवेना। हिंदि-भाषाय पुस्तक ओ वक्तृता भारतेर अधिकांश स्थानेर मंगल साधन करिवेन। केवल बाँ[illegible] ओ इँराजी चर्चाय हइवे ना। भारतेर अधिवासीर संख्यार सां[illegible] तुलना करिले बाँगला ओ इँरेजी कय जन लोक बोलिते बुझिते पारेन? बाँगलार न्याय ये हिंदिर उन्नति हइतेछे ना [illegible] देशेर दुर्भाग्येर विषय। हिंदी-भाषार सहाय्ये भारतवर्षेर विभि[illegible] प्रदेशेर मध्ये याँहारा ऐक्य बंधन संस्थापन करिते पारिबेन ताँहा[illegible] [illegible] प्रकृत भारतबंधु नामे अभिहित हइवार योग्य। सकले चेष्टा [illegible]रुन, यत्न करुन, यत दिन परेई हउक मनोरथ पूर्ण हइवे।"

प्रसिद्ध विद्वान् और देश-भक्त श्रीयुत अरविंद घोष अपने [illegible]र्म'-नामक साप्ताहिक पत्र में कहते हैं—"भाषार भेदे आर [illegible]रा हइवे ना, सकले स्व-स्व मातृ-भाषा रक्षा करियाओ [illegible]धारण भाषा-रूपे हिंदी-भाषा के ग्रहण करिया सेई अंतराय [illegible]नष्ट करिब।"

हिंदू ही नहीं, परलोकवासी सैयदअली बिलग्रामी-जैसे मुसल-
न विद्वानों ने भी हिंदी को ही राष्ट्र-भाषा होने योग्य बताया
धर्मांधता तथा प्रादेशिक प्रेम के कारण कुछ लोग भले ही
दी का विरोध करें; पर सत्य की सदा जय है। आज हो, या
ल अथवा परसों, हिंदी ही भारतवर्ष की राष्ट्र भाषा होगी, इसमें
ह नहीं।

हिंदी समाचार-पत्रों तथा पुस्तकों का प्रचार भी क्रमशः बढ़
है। और विश्वविद्यालयों की बात तो मैं जानता नहीं, पर
कत्ता-विश्वविद्यालय में तो बी० ए० तक हिंदी की पहुँच हो
है। आशा है, आगे एम्० ए० में भी पहुँच जायगी। *
न बातों के देखने से हिंदी की बाहरी अवस्था तो अच्छी
म होती है। अब भीतरी अवस्था जैसी है, उसे भी जरा देख
चाहिए।

## भीतरी अवस्था

तोषजनक नहीं है। भारतेंदु के समय में इसकी जो दशा
आजकल भी प्रायः वैसी ही है। इसका कारण हिंदीवालों
उदासीनता, हठ और दुराग्रह है। जिसने जो कुछ एक बार
लिया या जान लिया है, वह उससे अधिक सीखने की
खा बैठा है। हिंदीवाले भूल मानना तो जानते ही नहीं।
-अन्याय, उचित-अनुचित, जो कुछ जिसके मुँह से निकल

* पहुँच गई।—संपादक

जाना है, उसी को ठीक साबित करने में वह अपनी सा
नाई खर्च कर देता है। हिंदीवाले मिलकर काम करन
जानते। इसी से अपनी-अपनी डफली और अपना-अपन
अलापा जा रहा है। कोई आत्मा, गीत, बूँद आदि को
मानता है, तो कोई स्त्री-लिंग। कोई लिखता है 'भारतमित्र
दक' और कोई 'संपादक, भारतमित्र'। कोई विभक्ति को
के साथ मिलाकर लिखता है, तो कोई अलग। अरबी-फ़ा
के शब्दों में कोई बिंदी लगाता है, कोई नहीं। मतलब यह
सब कोई अपनी-अपनी खिचड़ी अलग ही पका रहे हैं। द
वर्ष पहले जो मतभेद था, वही आज भी है। समय-समय प
खंडन-मंडन भी हो जाता है, पर निश्चय कुछ नहीं होता। वही
'ढाक के तीन पात' रह जाते हैं। इस मतभेद को दूर करना
बहुत आवश्यक है। साहित्य में हठ तथा दुराग्रह को स्थान देना
ठीक नहीं। हठ, दुराग्रह और ईर्षा-द्वेष को छोड़कर हमें हिंदी
के अभाव एवं त्रुटियों को दूर करना और उसकी उन्नति
के लिये सदा प्रस्तुत रहना चाहिए।

### गद्य

गद्य की दशा साधारणतः अच्छी है; पर जैसी होनी चाहिए,
वैसी नहीं। जितने लिखनेवाले हैं, सब अपना-अपना सिक्का
अलग जमा रहे हैं। कोई किसी की सुनता नहीं; खूब खैंचातानी
हो रही है। सुलेखकों की संख्या अभी उँगलियों पर गिनने
लायक है। इसका कारण हिंदी...

द अभाव दूर न किया जायगा, हिंदी की यही हीन दशा
हेगी।

## व्याकरण

हिंदी में आजकल व्याकरण की मिट्टी पलीद हो रही है। लोग
दी लिखते समय व्याकरण को ताक़ पर रख देते हैं। जिन
गों का यह कथन है कि हिंदी में व्याकरण का अभी अभाव
, वे भूलते हैं। हिंदी में व्याकरण का अभाव न था, और न
। अभाव सीखने और समझनेवालों का है। हाँ, यह बात
रूर है कि व्याकरण की कोई सुंदर पुस्तक नहीं है। जो
-चार छोटी-मोटी आँसू पोछने के लिये हैं भी, उनकी कोई
वा नहीं करता। यदि परवा होती, तो लावण्यता, सौंदर्यता,
हुल्यता, ऐक्यता, एकत्रित, ग्रसित, क्रोधित आदि शब्दों की
ष्टि न हो पाती।

हिंदी के लेखकों में एकता नहीं है। वर्ण-विन्यास और पद-
जना इसके प्रमाण हैं। कोई लिखता है 'सकता', और कोई
सक्ता', यानी क और त को मिलाकर। 'सकना' धातु से
कता' बनता है। धातु-रूप में तो क और त संयुक्त नहीं
। फिर 'सकता' में क और त का संयोग क्यों हो जाता है?
ी तरह रखा, रक्खा, करें, करैं, लिखें, लिखैं आदि का झगड़ा
लता है। मैं नहीं जानता कि इस व्यर्थ के बखेड़े से क्या लाभ
चा गया है? अगर यह कहा जाय कि उच्चारण के अनुसार
लिखना चाहिए, तो मैंने आज तक किसी को करैं, लिखैं,

इस तरह मुँह बिगाड़कर बोलते नहीं सुना है। जो हो, इ
छोटे-मोटे झगड़ों का तय हो जाना ही उचित है।

## कोष

उल्लेख करने योग्य अभी हिंदी में एक भी कोष नहीं है। इसके
बिना बड़ा हर्ज हो रहा है। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के
कोष की चर्चा बहुत दिनों से सुनी जा रही है। देखें, वह कब
तक प्रकाशित होता है।*

## नाटक

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के नाटकों के बाद फिर कोई उत्त
नाटक देखने में नहीं आया। नाटक साहित्य का एक अंग है।
इसकी तरफ इतनी उदासीनता न होनी चाहिए।

## उपन्यास

इसका बाजार तो खूब ही गरम है। इनकी संख्या नित्य बढ़ती
चली जाती है; पर अफसोस यही है कि दो-चार-दस को छोड़कर
वाही सब निकले हैं। अपने दिमाग से निकालनेवाले कम, पर
अन्य भाषाओं से उल्था करनेवाले अधिक हैं। उपन्यासों के
ों पढ़नेवालों की संख्या बहुत बड़ी है, और बढ़ती जा रही है।
गंदे तथा अश्लील उपन्यासों के रोकने का प्रबंध होना
।

## शिल्प-कला आदि

शिल्प-कला, शिल्प ...

पुस्तकों का पूरा अभाव है । इस ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है । श्रीयुत महेशचरणसिंह ने 'हिंदी-रसायन' नाम की पुस्तक लिखी है । वह अपने ढंग की पहली पोथी है । धन्यवाद है पंडित गौरीशंकर ओझा और मुंशी देवीप्रसादजी को, जिन्होंने हिंदी में ऐतिहासिक ग्रंथ लिखने का लग्गा लगा दिया है। क्या और कोई माई के लाल अन्य विषयों की तरफ ध्यान न देंगे !

## समाचार-पत्र

समाचार-पत्रों की संख्या अवश्य बढ़ गई है, और प्रतिदिन बढ़ रही है; परंतु उनकी भीतरी अवस्था अच्छी नहीं है । दो-चार के सिवा सभी लस्टम-पस्टम चल रहे हैं । दैनिक पत्र अब एक भी नहीं है। मासिक पत्रिकाओं में 'सरस्वती' और 'मर्यादा' ही विशेष उल्लेख के योग्य हैं । पत्रों के अच्छे या बुरे होने के कारण उनके संपादक हैं । जैसा संपादक होगा, उसका पत्र भी वैसा ही होगा । परंतु दुःख है, हिंदी-पत्रों के अध्यक्ष और संचालक प्रायः आँखे मूँदकर संपादक नियुक्त करते हैं । संपादक की योग्यता तथा उसका पद कैसा दायित्व-पूर्ण है, इसका तनिक भी विचार नहीं किया जाता । इसी हेतु संपादक प्रायः ऐसे लोग हो जाते हैं, जो अँगरेज़ी तो क्या, हिंदी भी अच्छी तरह नहीं जानते । ऐसे संपादकों को भला कब अपने कर्तव्य का ज्ञान रह सकता है ? वे आपस में लड़ने और गालियाँ देने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री कर डालते हैं । व्यर्थ के झगड़े और कलह करने में ही वे अपनी प्रशंसा समझते हैं । भाषा का वे कैसा सपिंड श्राद्ध करते हैं, यह

सब साहित्य-सेवी जानते हैं। ऐसी दशा में पत्रों की उन्नति
संभव है! तारीख २०, जून, सन् १९११ के 'अभ्युदय'
'विचारणीय विषय'-शीर्षक लेख के उत्तर में 'हिंदी-हितैषी'
के नाम से मेरा एक निबंध निकला था। उसमें मैंने लिखा था—
"मेरी राय है कि अभी एक ऐसी समिति बना ली जाय, जिसके
सभासद् हिंदी के दो-चार मर्मज्ञ विद्वान् हों। इसका काम व
एक या दो-दो बार हिंदी-परीक्षार्थियों की परीक्षा लेकर प्रशंसा
देना हो। जिसके पास इस समिति का प्रशंसा-पत्र हो, वही हिंद
का वास्तविक विद्वान् और लेखक समझा जाय। इन्हीं परीक्षोत्तीर्ण
लोगों में से पत्र-संपादक भी नियत हुआ करें।" ऐसा हो जाने से
हिंदी की लिखावट में जो गड़बड़झाला आजकल दिखलाई देता है,
वह दूर हो जायगा, और हिंदी-भाषानभिज्ञ संपादकों की सं
क्रमशः न्यून होती जायगी। आशा है, सम्मेलन इसका
करेगा।

## पद्य

पद्य की दशा पहले जैसी अच्छी थी, आजकल वैसी
शोचनीय है। वह 'दो मुल्लों में मुर्गी हराम' की कहावत को चरि
र्थ कर रहा है। कोई तो इसे वर्तमान हिंदी यानी खड़ी बोली की
र खींचता है, और कोई पड़ी बोली अर्थात् ब्रजभाषा की
। इस खींचातानी में पद्य-भाग जहाँ-का-तहाँ खड़ा रह गया
उन्नति न कर सका।
भाषा के कवि वही पुरानी लकीर पीट रहे हैं। इससे उनकी

कविताओं में कुछ नया आनंद नहीं मिलता। यदि वे लोग समस्या-पूर्ति, नायिका-भेदादि छोड़कर प्रचलित विषयों पर नवीन रुचि के अनुसार कविता करें, तो हिंदी-साहित्य का विशेष उपकार हो, और उनका भी आदर-मान हो।

खड़ी बोलीवाले भी बेतहाशा सरपट दौड़ रहे हैं। वे तुकबंदी को ही कविता समझते हैं। खड़ी बोली के कवि तो आजकल बहुत बन गए हैं; पर यथार्थ में कवि कहलानेवाले बहुत थोड़े हैं। केवल तुकबंदी का नाम कविता नहीं है, और न अच्छे शब्दों को एकत्र कर देना ही कविता है। कविता एक स्वर्गीय पदार्थ है। जिस कविता से हृदय की कली विकसित न हो उठे, और चित्त तन्मय न हो जाय, वह कविता कविता ही नहीं। भूषण के कवित्तों को सुनकर छत्रपति शिवाजी महाराज की नस-नस में उत्साह और वीरता की बिजली दौड़ गई थी। बिहारी के एक ही दोहे को पढ़कर जयपुर-नरेश जयसिंह मंत्र-मुग्धवत् अंतःपुर से दरबार में दौड़े चले आए थे। क्या आजकल भी मन को मोहनेवाली ऐसी कविताएँ होती हैं! भाव-शून्य कविता किसी काम की नहीं। भाव ही कविता का प्राण है; परंतु हिंदी में अब अधिकांश कविताएँ भाव-शून्य ही होती हैं।

कुछ लोग बेतुकी के प्रेमी हो गए हैं। उनका कहना है कि तुक मिलाने में बड़ी झंझट है। इसके फेर में पड़कर कविगण भाव को भूल जाते हैं। पर मैं यह स्वीकार करने के लिये अभी प्रस्तुत नहीं। जो स्वाभाविक वा यथार्थ कवि हैं, वे सदा भावमय रहते हैं।

तुक मिलाने की चिंता उनकी भाव-राशि में बाधा नहीं डा
सकती। यदि यह बात होती, तो भूषण, बिहारी, सूर, तुल
आदि प्राचीन कवियों से लेकर भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र,
पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी और
पं० श्रीधर पाठक तक की कविताएँ आदर की दृष्टि से न
जातीं, क्योंकि इन सबने मित्राक्षर छंदों में रचना की है। खैर,
अमित्राक्षर छंद के अनुरागियों को रोकता नहीं। वे मजे में बेतु
कविता करें, पर कृपा कर पुराने छंदों की व्यर्थ निंदा न करें।
खड़ी बोली का भी मैं विरोधी नहीं, पर साथ ही प्यारी ब्रज-
भाषा को बहिष्कृत करने के पक्ष में भी नहीं। पंडित केदारनाथ
भट्ट के कथनानुसार जिस बोली में भगवान् श्रीकृष्णचंद्र
कर यशोदा से "मैया, मोहि दाऊ बहुत खिजायो" कहा
पद्य-रचना के समय निरस्कृत करना कदापि उचित नहीं है
भाषा में जो रस—जो लालित्य—जो सौंदर्य—जो माधुर्य है
ड़ी बोली को अभी तक प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं हुआ
कहने के लिये अभी बहुत-सी बातें हैं, पर समयाभाव
ण यहीं समाप्त करता हूँ। आशा है, हिंदी की वर्तमा
या का कुछ थोड़ा-सा ज्ञान इससे हो जायगा। हिंदी में जं
अभाव या त्रुटियाँ हैं, उन्हें दूर करना हमारा कर्तव्य है।
र प्रांतवाले हिंदी को ग्रहण करने के निमित्त प्रस्तुत हो
तो हमें चुपचाप नहीं बैठना चाहिए। भारतेंदुजी के
मिलाकर मैं भी यही कहता हूँ—

"विविध कला, शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार;
सब देसन सों लै करहु भाषा माहिं प्रचार।
प्रचलित करहु जहान में निज भाषा करि यत्न ;
राज-काज, दरबार में फैलावहु यह रत्न।"

---

# अनुप्रास का अन्वेषण*

वर्षों व्यतीत हुए, मेरे आदरणीय अध्यापक श्रीयुत ललित-कुमार वंद्योपाध्याय विद्यारत्न, एम्० ए० महाशय ने कलकत्ता-कॉलेज स्क्वायर के युनिवर्सिटी- इंस्टीट्यूट में संध्या-समय सभापति के स्थान पर सर गुरुदास बनर्जी को बिठा 'अनुप्रासेर अट्टहास'-शीर्षक बँगला-प्रबंध का पाठ किया था, जिसमें उन्होंने बंगभाषा में व्यवहृत, प्रयुक्त और प्रचलित संस्कृत, अँगरेजी, उर्दू, हिंदी और बँगला-शब्द, महावरे और कहावतें उद्धृत कर अनुप्रास का अधिकार बँगला भाषा पर दिखाया था। प्रबंध के पढ़े जाने पर 'बँगला बंगवासी' के संपादक बाबू बिहारीलाल सरकार बोले—"बांगलाई कोवीतार भाषा। कारोन, एते ओनेक ओनुप्रास आछे। ओतो अनुप्रास आर कोनो भाषाते नाईं। ओनुप्रास कोवीतार ऐकटी गून।" अर्थात् 'बँगला ही कविता की भाषा है; क्योंकि इसमें जितना अनुप्रास है, उतना और किसी भाषा में नहीं। अनुप्रास कविता का एक गुण है।'

मुझे बूढ़े बिहारी बाबू की यह बात बहुत बुरी लगी; क्योंकि भारत के भाल की बिंदी इस हिंदी को ही मैं कविता की भाषा जानता क्या था, अब तक जानता और मानता हूँ। मैंने सोचा,

* षष्ठ हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में पठित।

क्या हिंदी-भाषा में अनुप्रास का अभाव है? यदि नहीं, तो बँगला ही क्यों कविता की भाषा घोषित की जायगी? यह सोच-विचार मैंने हिंदी में अनुप्रास का अन्वेषण आरंभ कर दिया। इस अनुसंधान में जो कुछ अपूर्व आविष्कार हुआ, उसी को आज आप लोगों के आगे अर्पित करता हूँ।

संस्कृत-साहित्य में अनुप्रास का अनुसंधान अनावश्यक जानो; क्योंकि एक तो वह भारत की प्रायः सभी भाषाओं की जननी है, उस पर सबकी समान श्रद्धा है। दूसरे, उसके स्तोत्र तक जब अनुप्रास से अधिकृत हैं, तब काव्यों की कथा ही क्या है! निदर्शन के लिये निम्न-लिखित स्तव ही पर्याप्त होगा—

"गांगं वारि मनोहारि मुरारिचरणच्युतम्;
त्रिपुरारिशिरश्चारि पापहारि पुनातु माम्।"

"पापापहारि दुरितारि तरंगधारि,
शैलप्रचारि गिरिराजगुहाविदारि,
झंकारकारि हरिपादरजोपहारि,
गांगं पुनातु सततं शुभकारि वारि।"

एक और सुनिए—

"नमस्तेऽस्तु गंगे त्वदंगप्रसंगात्
भुजंगास्तुरंगाः कुरंगाः प्लवंगाः;
अनंगारि रंगाः ससंगाः शिवांगा
भुजंगाधिपांगी कृतांगा भवन्ति।"

...... यह। अनुप्रास का अड्डा अद्भुत ढं
से जमा हुआ है। यथा—

चंपक चमेलिन सों चमनि चमत्कार,
चमू चंचरीक के चितौन चोरे चित हैं;
चाँदी को चबूतरा चहूँधा चमचम करे,
चंदन सों गिरधरदास चरचित हैं;
चारु चाँद-तारे को चँदोवा चारु चाँदनी सो,
चामी कर चोवन पै चंचला चकित हैं;
चुन्निन की चौकी चढ़ी चंदमुखी चूड़ामनि,
चाहन सों चैत करैं चैन के चरित हैं।

अन्य भाषा-भाषी अपनी-अपनी भाषा के दो-चार शब्दों में अनुप्रास आता अवलोकन कर आनंदित और गद्गद हो जाते हैं। पर यहाँ तो चारो चरणों में चकार की भरमार है। अफ़सोस है, तो भी हम हिंदी की हिमायत न कर उर्दू-अँगरेजी का ही आल्हा अलापते हैं। ख़ैर।

इसलिये मैंने पद्य परित्याग कर गद्य की ओर ही गमन किया, और वहाँ राजा-रईस, राजा-रंक, राव-उमराव, सेठ-साहूकार, कवि-कोविद, ज्ञानी-ध्यानी, योगी-यती, साधु-संन्यासी से लेकर नौकर-चाकर, तेली-तमोली, बनियाँ-बक्काल, कहार-कलवार, मेहतर-चमार, कोरी-किसान और लुच्चे-लफ़ंगे तक की बात-

गुफ़्तार, चाल-चलन, चाल-ढाल, मेल-मुलाक़ात, रंग-रूप, आकृति-प्रकृति, जान-पहचान, हेल-मेल, प्रेम-प्रीति, आव-भाव, जात-पाँत, रीत-रस्म, रस्म-रवाज, रीत-नीत, पहनावे-ओढ़ावे, डील-डौल, ठाट-बाट, बोल-चाल, संग-साथ, संगत-सोहबत में अनुप्रास का अमल-दख़ल पाया। मैंने अपनी ओर से न कुछ घटाया-बढ़ाया न काटा-छाँटा और न चुस्त-दुरुस्त ही किया। शब्दों को जिस सूरत-शकल में जहाँ पाया, वहाँ से वैसे ही उठाकर ठौर-ठिकाने से मौक़ा-महल देख रख भर दिया है।

अन्वेषण के पहले अनुप्रास का नाम-धाम, आकार-प्रकार, रंग-ढंग और नामोनिशान जान लेना जरूरी है। अँगरेज़ी के Alliteration & Assonance, उर्दू-फ़ारसी का क़ाफ़िया-रदीफ़ और संस्कृत-हिंदी का अनुप्रास नाम में दो होने पर भी काम में एक ही हैं।

स्वर के बिना व्यंजन-वर्ण के साम्य को अनुप्रास कहते हैं, यानी वाक्य और वाक्यांश में वारंवार एक ही प्रकार के व्यंजन-वर्ण के आने को अनुप्रास कहते हैं। इसके अनेक रूप-रूपांतर हैं, पर प्रधान पाँच ही हैं। जैसे—

( १ ) छेकानुप्रास—भोजन बिना भजन।

( २ ) वृत्त्यनुप्रास—हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति का सुंदर सिंहासन।

( ३ ) श्रुत्यनुप्रास—खेल-कूद, जंगल झाड़ी।

( ४ ) अंत्यानुप्रास—अत्र तत्र सर्वत्र है भारतमित्र सुपत्र।

( ५ ) लाटानुप्रास—शिक्षिता अबला अबला नहीं है।

अच्छा, अब असली हाल सुनिए। अनुसंधान के अर्थ कमर कसते ही मुझे अपने इर्द-गिर्द, अगड़-बगड़, अड़ोस-पड़ोस, टोले-मुहल्ले, घर-बाहर, भीतर-बाहर, आस-पास, इधर-उधर, नाते-रिश्ते, बंधु-बांधव, भाई-बंद, भाई-भतीजे, कुटुम्ब-कबीला, पुत्र-कलत्र, बाल-बच्चे, लड़के-वाले, जोरू-जाँते, चूल्हे-चक्की, घर-बार, अपने-बेगाने, भान-भानेज, भाई-बिरादरी, खानदान, परिवार, तमाम अनुप्रास-ही-अनुप्रास नजर आने लगा। इसका अनुमान नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण लीजिए। मेरा नाम जगन्नाथप्रसाद, स्टेशन जमुई, ससुर जहाँगीर-पुर-निवासी जैन-माने जसवंतरायजी के जेठे बेटे जयंतीप्रसादजी, मामा जयकृष्णलालजी और लड़का यदुनंदन है। मेरा आदि-निवास मथुरा, मध्य मिरजापुर और वर्तमान मलयपुर, जिला मुंगेर, प्रवास मुकाराम बाबू स्ट्रीट (कलकत्ता), अन्तर्भई मिश्र, हिस्सेदार मिरजामलजी और चाचा मुरारीलाल तथा मथुराप्रसाद महोदय हैं। उपाधि चौबे-चतुर्वेदी, काम चपड़े का और उमर चालीस की है। गोत्र सौश्रव है। क़िस्साकोता परिजन, पुरजन, अरिजन, स्वजन, सबकी मोह-ममता और माया-मोह छोड़, मुँहमोड़ सज-धज और बन-ठनकर अनुप्रास की तलाश में निकल पड़ा।

## वाणिज्य-व्यापार

चूँकि अपना धर्म-कर्म वाणिज्य-व्यापार से चलता है, नौकरी-चाकरी से कुछ लेना-देना नहीं। बस, जवानी-दीवानी के फंदे में फँस मनमानी-घरजानी करता पहले बंगाल-बंक की बड़ाबाजार-

ऑंच में जा पहुँचा, तो क्या देखता हूँ कि रोकड़-जाकड़, हिसाब-किताब, खाते-पत्तर, उचंतखाते, खर्चखाते, खैरातखाते, खुदरा खर्च-खाते, बट्टे खाते, ब्याजबट्टे, लेन-देन, नकराई-सकराई, मिती के भुगतान, खोखे, पैठ-परपैठ, देने-पावने, नाम-जमा, लेवाल-देवाल, लेवाल-बेचवाल, साझे-शराकत, सौदा-सुल्फ, तारवार, लेने-बेचने, खरीद-बिक्री, खरीद-फ़रोख्त, बेचने-खोचने, मोल लेने, क्रय-विक्रय, माल-टाल, माल-जाल, मालमता, बिल्टी-बीजक, बाकी-बकाए, मत्थे-पोते, ज़मीन-जायदाद, धन-दौलत, धन-धान्य, अन्न-धन, सौ के सवाए, नफे-मुनाफे, नफे-नुकसान, आमदनी-रफ्तनी, आगम-निर्गत, स्टॉक-थोक, दर-दाम, मोल-तोल, बोहनी-बट्टे, बाजार-दर, देनदार, दूकानदार, सराफ, बजाज, मुनीम, गुमाश्ते और बसने के ब्राह्मणों की कौन कहे, दिवाले निकालने, टाट उलटने, बम बोलने, आफीशियल असायनी और इनसाल्वेंट अदालत तक में अनुप्रास का आसन जमा है। केवल यहीं नहीं—दलाल, नमूने, काम-काज, कार-बार, कार-व्योहार, काम-धंधे, खुशी के सौदे, कल-कारखाने, कल के कुली, जहाज की जेटी और बट्टे-चट्टे में भी आप आ बैठे हैं।

बाजार बढ़े, चढ़े या घटे, गिरे या उठे, तेज हो या मंदा, सुस्त या समान रहे, मारवाड़ी महाजन हों, चाहे बंगाली व्यापारी, ब्योहरे बनिए हों, चाहे ब्राह्मण, सभी अनुप्रास के चक्कर में हैं। उत्तमर्ण-अधमर्ण में, स्वदेशी शिल्प में, सूची-शिल्प में, श्रम-शिल्प में, शिल्प-सभा में, श्रमजीवी समवाय में, कृषि-शिल्प-प्रदर्शिनी में,

ज्ञ में, कला-कौशल में, "व्यापारे वसते लक्ष्मी" य
र्विसति वाणिज्ये" इस मूल-मंत्र में भी अनुप्रास आ गया है
त में खयानत करो, धन गबन करो, बचत बचाकर 'नौ नकद
उधार' करो, कच्चे चिट्ठे को पक्का समझो, या सफ़ेद के
करो, बंक से बंधक का बंदोबस्त कर ब्याज बढ़ाओ, जूट
फाटका या सट्टा करो; पर अनुप्रास का अदर्शन न होगा।
रे लाख के लेनेवाले रेलीब्रदर्स, अर्नर्योजन, बेकरग्रे, टॉम-
न और लालमारसलपर, तथा बेचनेवाले मिरजापुरी महाजन
फ़कीर, बंधु-बुझावन, मंगन-झंगन, शिवचरनसहाई, झम्बू
चुन्नीलाल, लुनावत और रामस्वरूपराम रामसरूपराम पर
प्रास का अनुग्रह है। यह दूकानदारी या बनारसी बात
च्चा सौदा है।

सर हुआ, तो कलकत्ते के बड़े बाजार में, दिल्ली के
चौक में, बनारस के ठठेरी बाजार में, आगरे के किनारी
में, मिरजापुर के धूंधीकटरे में, कानपुर के कलक्टरगंज
पुर के जौहरीबाजार में, प्रयाग के जानसेनगंज में,
के बेडनबाजार में, भागलपुर के नाथनगर, सूजागंज में,
के मचर दरवाजे में, पटने के गुदड़ीकल्ले में, बंबई के
देवी में भी अनुप्रास को अकड़ते पाया। अस्तु।

## साहित्य

न उपार्जन के उपरांत साहित्य-सेवा है। संस्कृत-साहित्य

की कौन कहे, राष्ट्र-भाषा हिंदी के साहित्य-संसार में भी अनुप्रास की आँधी आ गई है। दिव्य दृष्टि से नहीं, चर्म-चक्षुओं से ही चश्मा लगा आप देखेंगे कि कवि-कुल-कुमुद-कलाधर, काव्य-कानन-केसरी और कविता-कुंज-कोकिल कालिदास भी काव्य-कल्पना में अनुप्रास का आवाहन करते हैं। कहीं-कहीं तो कष्ट-कल्पना से काव्य का कलेवर कलुषित हो जाता है। यह कपोल-कल्पना नहीं, कवि-कोविदों का कहना है। ख़ैर, वंशीवट, यमुना-निकट, मोर-मुकुट, पीतपट, कालिंदी-कूल, राधा-माधव, व्रज-वनिता, ललिता, विधुवदनी, कुँवर-कन्हैया, नंद-यशोदा, वसुदेव-देवकी, वृंदावन, गिरि-गोवर्द्धन, ग्वाल-बाल, गो-गोप-गोपी, ताल-तमाल, रसाल-साल, लवंग-लता, विपिन-विहारी, नंदनंदन, विरह-व्यथा, वियोग-व्यथा, संयोग-वियोग, मधुर मिलन, मदन-महोत्सव और मलयानिल ही नहीं, झिल्लियों की झनकार, वीर बादर, घनगर्जन-वर्षण, दामिनी की दमक, चपला की चमक, बादर की गरज, शीतल-सुगंध-मंद मारुत, कुसुम-कलिका, मदन-मंजरी, वीरबहूटी, चोआ-चंदन, अतर-अरगजा, तेल-फुलेल, मेहँदी-महावर, सोलह शृंगार, मृगमद, राहुरद, कुमुद-कमल-कल्हार, स्थलकमल, सरसिज, सरोरुह, पद्म-पत्र, एला-लता, लज्जावती-लता, छुईमुई की पत्ती, कोयल की कुहक, कूजित कुंजकुटीर, शशि, वसंती वायु, मलय-मारुत, मधुमास, युवक-युवती, नवयौवन, षोडशी, स्मर-शर, पवित्र प्रेम, प्रेम-पाश, प्रेम-पिपासा, यामिनी-यापन, रमणी-रत्न, सुख-सागर, रस-सागर, दुःख-दावानल, अंध-

अनुराग, मुग्धा-मध्या, प्रोषितपतिका, वासकसज्जा, अथवा-विधवा सधवा, चित-चोर, मनमोहन, मदनमोहन, दिलदार यार, प्राणनाथ प्राणप्रिय, पीन पयोधर, प्रेम-पत्र, प्रेम-पताका, प्राण-दान, सुख-स्वप्न, आलिंगन-चुंबन, चूमा-चाटी, पाद-पद्म, कृत्रिम कोप, भ्रू-भंग, भृकुटी-भंगी, मानमर्दन और मानभंजन भी अनुप्रास के अधीन हैं।

कंबुग्रीव, बाहुबल्ली, कर-कमल, पद्म-पलाश-लोचन, कुच-कमल, कुच-कलश, कुच-कुंभ, निविड़-नितंब, पद-पल्लव, गज-गमन, हरिण-नयन, केसरि-कटि, गोल कपोल, गुलाबी गाल, कोमल कर, दाड़िम-दसन और साफ़-सुथरी-गोरी नारी की मधुर मुस्कान में जैसे अनुप्रास का वास है, वैसे ही काली-कलूटी, मैली-कुचैली, नाटी-मोटी, खोटी-छोटी, कर्कशा, कलहकारिणी कुल्टा के बिखरे बालों में भी है। तात्पर्य यह कि प्रेम में नेम नहीं, तकल्लुफ़ में सरासर तकलीफ़ है। प्रेम का पंथ ही पृथक् है। निराला होने पर भी आला है। इसमें सुख-दुःख और जीवन-मरण, दोनों हैं। हँसा सो फँसा। इश्क हकीकी हो या मजाजी, उसमें मार और प्यार, दोनों हैं। भगत के बस में हैं भगवान। आशिक़-माशूक़ और प्रेमिक-प्रेमिकाओं के हाव-भाव, नाज़-नख़रे, चोंचले, ढको-सले मुक्त-भोगी ही जानते हैं। जो दिलजले हैं, उनका दिल भला कहीं क्यों लगने लगा। जो सदा-सर्वदा मक्खियाँ मारा करते हैं, उनसे भला क्या होना-जाना है। जिसका सनेह सच्चा है, वह लाख आपत-विपत होते भी सही-सलामत मंज़िले-मक़सूद क

पहुँच जाता है। उसके लिये विघ्न-बाधा, विपद्-बाधा कुछ है ही नहीं। यहाँ तक तो अनुप्रास आया। अब आगे राम मालिक है।

व्याकरण के वर्तमान-भूत-भविष्यत् में, संज्ञा-सर्वनाम में, विशेष्य-विशेषण में, संधि-समास में, कर्ता-क्रिया-कारक में, कर्ता-कर्म-करण में, उपादान-संप्रदान-अधिकरण में, संबंध-संबोधन में, उद्देश्य-विधेय में, कर्तरि-कर्मणि प्रयोगों में, तत्पुरुष-कर्मधारय, बहुव्रीहि-द्वंद्व-द्विगु समासों में, विभक्ति-प्रत्यय में, प्रकृति-प्रत्यय में, आसक्ति-आकांक्षा में, सार्थक-निरर्थक शब्दों में, जाति-व्यक्ति और भाववाचक संज्ञाओं में जब अनुप्रास का निवास है, तब सामयिक साहित्य की सामग्री कागज-कलम, कलम-पेंसिल, रूल-पेंसिल, हैंडल-होल्डर, स्याहीसोख, निब-पिन, चाकू-कैंची, एडीटर-कंपोजिटर, प्रिंटर-पब्लिशर, संपादक-मुद्रक-प्रकाशक, प्राप्तपत्र, प्रेरितपत्र, संपादकीय स्तंभ, साहित्य-समाचार, तार-समाचार, तड़ित्-समाचार, तार-तरंग, विविध समाचार, मुफस्सिल समाचार, साहित्य-समालोचना, क्रोड़पत्र, वेल्युपेबल पारसल और प्रेस-सेंसर में भी अवश्य ही है।

भारतमित्र, अभ्युदय, प्रेमपुष्प, बंगवासी [illegible] जीप्रताप, सज्जनकीर्तिसुधाकर, वीरभारत, [illegible] मिथिला-मिहिर, सत्यसमाचार

सारदाविनाद, स्त्री-दर्पण, मनोरंजन, वै
चतुर्वेदी-चंद्रिका, महामंडल-मेगजीन, म
मासिक पत्रों में अनुप्रास का अंश है।

लेखकों में बाबू बालमुकुंद वर्मा, गं
भगवानदीन, ब्रजराज बहादुर बी० ए०, नरे
मालेराव, हरिहरस्वरूप शास्त्री, तीर्थत्रय स
अंबिकाप्रसाद बाजपेयी, वासुदेव, बाबूराव विष्णु
नंदन अखौरी, रामनारायण चतुर्वेदी, महावी
पद्मसिंह शर्मा, विद्यावारिधि ( ज्वालाप्रसाद मिश्र
शर्मा, गिरिजाकुमार घोष, चंद्रधर गुलेरी, कृष्णकांत
गजपुरी, गोपालराम गहमरी, रामजीलाल, लज्जा
गौरीशंकर-हीराचंद, राधाचरण, द्वारकाप्रसाद चतु
मतार, रामरणविजयसिंह, अयोध्यासिंह उपाध्याय,
राय देवीप्रसाद पूर्ण, भारतेंदु हरिश्चंद्र, अंबिकादत्त व्या
मिश्र, श्रीनिवासदास, सदानंद मिश्र, तोताराम, लल्लू
लेखिकाओं में यशोदादेवी, राजमनीदेवी, कृष्णकला,
कुमारी, तोरनदेवी 'लली,' रामेश्वरी नेहरू और हेमंत
चौधरी अनुप्रास के अंतर्गत ही मिलीं।

द्विवेदीजी-कृत 'कालिदास की निरंकुशता'
'निरंकुशता-निदर्शन'

साहित्य-संवर्धिनी सभा, प्रयाग या फीरोजाबाद का भारती-भवन, पाठकजी का पद्मकोट, सिंहजी का 'सतसई-संहार', व्यासजी का 'विहारी-विहार', प्रतापनारायणजी का 'सांगीत शाकुंतल', श्याम + शुक + गणेशविहारी मिश्रों का 'बंधु-विनोद' या 'कवि-कीर्तन' तथा 'नवरत्न', मैथिलीशरण की 'भारत-भारती', अयोध्यासिंहजी का 'प्रिय-प्रवास' तथा 'ठेठ हिंदी का ठाठ', अयोध्या-नरेश का 'रसकुसुमाकर', जोधपुरी मुरारिदानजी का 'यशवंत यशोभूषण' और मेरा 'संसार-चक्र' तथा 'विचित्र विचरण' भी अनुप्रास-आमेज़ है।

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति होने के सबब ही माननीय मदनमोहन मालवीय, गोविंदनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, महात्मा मुंशीराम और पंडित श्रीधर पाठक तथा महामंत्री पुरुषोत्तमदास टंडन को भी अनुप्रास ने अछूता न छोड़ा।

अनुप्रास के अत्यंत आग्रह से ही बाबू श्यामसुंदरदास इस बार सभापति के आसन पर आसीन हुए। पं० ठाकुरदत्त शर्मा स्वागतकारिणी समिति के मंत्रिपद को त्याग जड़ी-बूटी जमा करने हिमशैल-शिखर पर सिधारे, और पं० राजाराम शास्त्री उक्त पद पर पधारे थे। अनुप्रास के अनुरोध से ही राय रामशरणदास बहादुर ने भी स्वागतकारिणी समिति का अध्यक्ष होना अंगीकार किया, और मनहूस मुहर्रम की संग तातील तजकर क्रिसमस का सुहावना समय स्थिर हुआ। लोगों को लखनऊ से ही लाहौर चलने की लालसा लगभग साल-भर से लगी हुई थी; पर दाना

पानी ने सब पर पानी फेर दिया। अन्न-जल बड़ा प्रबल है। दगा-भाव पत्राधिकारियों की परिवर्तन-प्रियता अथवा छहरी लाहौरियों की व्यवस्थाओं से हमारे, तुम्हारे, सबके छक्के छूट गए, इक्के-दुक्के हो इधर-उधर ताक-झाँक करने लगे। खिचड़ी बेर गई, बोल बंद हुए। पर स्थायी समिति स्थिर रही। किंकर्तव्यविमूढ़ न हो उसने सोचा, समझा और अलाहाबाद में ही अधिवेशन का आयोजन कर एक सख़्त सवाल या मुर्दा मसला हल कर डाला। लिहाज लाचार हो लाहौर की लंबी मुसाफ़िरी से मुँह मोड़ अनुप्रास के अनुसंधान में मैं भी पंजाब मेल से पटने होता प्रयाग पहुँच ही गया।

## धर्म

साहित्य-सेवा के बाद धर्म-कर्म है। धर्मांध धर्मधुरंधर, धर्मधुरीण, धर्मावतार और सनातनधर्मावलंबी बनकर पोथी-पुराण, श्रुति-स्मृति, शास्त्र-पुराण का पठन-पाठन और श्रवण-मनन निदिध्यासन करो, प्रतिमापूजन-प्रतिपादन, मूर्ति-पूजा-मंडन और श्राद्ध-तर्पण का शंका-समाधान करो; पाखंडी पंडों, पुरोहितों और पंडितों के पैर पूजो, लकीर के फ़क़ीर बनो, संयमनियम, तीर्थव्रत, योग-भोग, जप-तप, याग-यज्ञ, ज्ञान-ध्यान, स्नान-ध्यान, पूजा-पाठ कर कर्मकांडी कहाओ; हव्य-कव्य-गव्य, पंचामृतपंचगव्य, धूपदीप, चंदन, पुष्प, कुमकुम, गंगाजल, तुलसीदल और तांबूल, पुंगीफल से परमात्मा का पूजन-अर्चन करो, चाहे आर्यसमाजी हो बालविवाह, विधवा-विवाह, बहुविवाह, वृद्ध-विवाह,

बेमेल-विवाह का विरोध कर समाज-संस्कार, समाज-सुधार के साथ नियोग निरूपण करो या खंडन-मंडन, शास्त्रार्थ, संध्या-वंदन, होम-हवन कर मांसपार्टी, घासपार्टी पैदा करो, पर अनुप्रास सदा सर्वत्र अनुसरण करता है। केवल यही नहीं, प्रवृत्ति-निवृत्ति, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष, मुक्ति-मोक्ष, लोक-परलोक, यम-यातना, साकार-निराकार, निर्गुण-सगुण, काशी-करवट, दान-पुण्य, जन्म-मरण, जन्म-मृत्यु, विषय-वासना, ब्रह्म विद्या, मुक्ति-मार्ग, ज्ञान-नेत्र, आगम-निगम, वेद-उपनिषद्, वेद-वेदांग-वेदांत, ब्रह्मवैवर्त, श्रीमद्भगवद्गीता, शास्त्रसिद्ध-विधि-निषेध और वेद-विहित कर्मों में भी अनुप्रास का आदर देखा।

आचार-विचार, नेम-धर्म, नित्यनैमित्तिक क्रिया-कर्म, ध्यान-धारणा, स्तव-स्तोत्र, यंत्र-मंत्र-तंत्र, ऋद्धि-सिद्धि, शुभ-लाभ, भजन-पूजन, भगवच्चिंतन, प्रायश्चित्त-पुरश्चरण, वृद्धिश्राद्ध, आद्य-श्राद्ध, सपिंडन-श्राद्ध, पितृप्रेतकृत्य, पिंडप्रदान, कपाल-क्रिया, जलांजलि, तिलांजलि, पितृपक्ष और गोग्रास में भी अनुप्रास का अनुभव किया।

दरस-परस, मज्जन-पान करें, सत्संग या साधु समागम से दुष्पारावार संसार को अनित्य समझें, सांसारिक सुख संभोग में सारा समय समर्पित कर दें, मारवाड़ी-सहायक-समिति संस्थापित करें या श्रीविशुद्धानंद सरस्वती-विद्यालय बनवावें ; पर अनुप्रास से अलग नहीं हो सकते। झुनझुनूवाले का लछमन-झूला, रामचंद गोयनका का जनाना घाट, सोदपुर की पिंजरापोल, रायबहादुर

बदरीदास मुनीम का माणिकतल्लेवाला मंदिर, मिरज़ापुर का गोवर्द्धन-गोशाला, सहारनपुर का (मेरी) सारदा-सदन, काँगड़ी का गुरुकुल, हिंदी-हीन हिंदू-विश्वविद्यालय, बाबा ज्ञानानंद का शरीर और निगमागम-मंडली, व्याख्यान वाचस्पति महात्मा दीनदयालुजी का श्रीभारतधर्म-महामंडल, प्रयाग की सेवा समिति और थूकापंथी भी अनुप्रास के आश्रित ही हैं।

हिंदुओं के परब्रह्म परमात्मा, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, वरुण, कुबेर, जय-विजय-नामक दोनो द्वारपाल, सूर्य-चंद्र, ग्रह-नक्षत्र, काली, कमला, शीतला, सरस्वती, महामाया, इंद्राणी, सर्वाणी, रुद्राणी, कल्याणी, देव-दानवों, देवी-देवताओं, नरी-किंनरी-अप्सराओं, गंधर्वों और भूत-प्रेत-पिशाचों में ही नहीं, मुसल्मानों के पारावरदिगार अक़बर, हजरत मुहम्मद, पीर, पैगंबर, पाँच पीर, हसन-हुसैन, मक्के-मदीने, कलाम अल्लाह, जामा मस्जिद, मोती मस्जिद, मीना मस्जिद, रोज़ा-रमजान, अलहमदुलिल्लाह और शीया-सुन्नी में ईसाइयों के ईसामसीह, बाइबिल, मरियम, देवदूत और प्रभात-प्रार्थना में, बौद्धों के बुद्धदेव, शाक्यसिंह, पद्मपाणि, प्रज्ञापारमिता, बौद्धविहार, और दलाईलामा में, सिखों के नानक और गुरु गोविंद में, जैनियों के पार्श्वनाथ पहाड़ में, आर्य-समाजियों के स्वामी दयानंद सरस्वती और सत्यार्थप्रकाश में, ब्रह्मसमाजियों के राजा राममोहनराय में तथा वैष्णवों के वल्लभाचार्य में भी अनुप्रास है।

कुंभ के मेले पर ओ० आर० आर० से हरद्वार जा रहे

पैरों के पुल के पास जगज्जननी जान्हवी के शीतल जल से पाप, ताप, प्रपताप का प्रक्षालन करो, त्रिवेणी के तट पर माघ मेले में मुंडन कराकर नहाओ, सूर्य-ग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में या मलमास में राजगिर जा स्नान-दान करो, संक्रांति के समय सागर-संगम या गंगासागर का सफ़र करो, कार्त्तिक की पूर्णिमा पर हरिहरक्षेत्र जाकर गंडकी में गोते लगाओ, बनारस के विश्वनाथजी और बैजनाथजी में बम्-बम् बोलो या काशी के कंकर शिवशंकर समान जानो, कोटकाँगड़े की नयनादेवी के दर्शन करो या 'मन चंगा, तो कठौती में गंगा' के अनुसार शिक्षा-दीक्षा ले घर पर ही अतिथि-अभ्यागतों, साधु-संन्यासियों की सेवा कर मेवा पाओ, चाहे व्यसनी, व्यभिचारी, विहारी, विलासी बाबू बनकर विषय-वासना के वशीभूत हो, बाप-बग़ीचे की बारहदरी में चुपचाप सगी-साथियों के साथ मिल-जुल आमोद-प्रमोद, ऐशोइशरत, ऐशोनिशात करो, शराब, कबाब और मांस-मछलियाँ उड़ाओ, होटलों में बोतलों के बिलों का टोटल दे बैंक पर चेक काटो या माट-भिखारियों, दीन-दुखियों और लूले-लँगड़ों को काना कौड़ी न दे महफ़िल में मुजरा सुन रंडी-भँड़वे और भाँड़-भगतिनों को इनाम-एकराम दे सब स्वाहा कर डालो, या शिखा-सूत्र परित्याग परमहंस बनो या वल्लभकुलियों को "तन, मन, धन अर्पन" कर समर्पण ले लो; पर अनुप्रास सदा साथ रहेगा।

धर्म की गहन गति मन के अनुकूल न हो, तो समाज-संशोधन की ही ठहरे। पहले समाज-शरीर का स्वरूप स्थिर करो—

विवाह-बंधन, जाति-पाँति, छूआ-छूत, चूल्हे-चौके, पंथ
और खान-पान का ध्यान छोड़ एकमेक गड़बड़ हो
पुरी का मजा अनुभव करो, दादूपंथ और सुंदरदास
साज़ छुन वाम-मार्ग से मुँह मोड़े, पतित जातियों को
पटेल-बिल के प्रचारक हो मना जाता जोगी, विद्यों
और स्वतंत्रता दे उनके शुभचिंतक बनो या उन्हें नि
और निरीह बना पर्दे के पीछे रख कूप-मंडूक बनाओ
प्राप्त पास ही रहेगा।

## आश्रम

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार
इस कराल कलिकाल में ब्रह्मचर्य की व्याख्या वृथा
ब्रह्मचारी बहुत, पर काम के कम हैं। वानप्रस्थ
है। संन्यास का स्वरूप है, पर शील-स्वभाव नहीं।
श्रम का गौरव रखनेवालों की कौन कहे, गोस्वामियों
इसलिये अब मैं गृहस्थ के घर में ही घुस
तलाश करता हूँ, क्योंकि धर्म की चर्चा कर
चबाने हैं।

## गृहस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम में गमन करते ही विवाह—पाणि
चित्त को चंचल करती है। घरनी बिना घर
के बिना गृह नहीं। स्वजनों, परिजनों और

कोरे-बच्चे का संग-साथ ठहरा। शहर, बाजार और नगर की ही नहीं, गँवई गाँव और देहातों की भी यही दशा है। दादा-दादी, माता-पिता, चाचा-चाची, काका-काकी, भाई-भौजाई, भाई-भतीजे, जीजा-जीजी, फूफा-फूफी, नाना-नानी, मामा-मामी और बहन-बहनोई की बदौलत संबंध—सगार्त—सगाई हो गई। वैदिक लौकिक रीति भाँति होने लगी। गाने-बजाने, नाच-गान, राग-रंग का बाजार गरम हुआ। चहल-पहल हुई। सज-धज, बाजे-गाजे, ठाठ-बाठ, धूम-धाम, धूम-धड़क्के, तुमतराक और शान-शौकत से टस्से के साथ बनरे ने सिर पर सेहरा रख घर से घोड़ी या पीनस-पालकी, तामजाम या विहार की खड़खड़िया पर शुभ सायत में यात्रा की। अपने बेगाने, अपने-पराए बराती बने। खाते पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते, पैदल चलते ठीक ठिकाने पहुँचे। यह उस समय की बात है, जब रेल का जाल नहीं फैला था। अब तो स्टेशन जा, टिकट कटा, माल तुला, महसूल दे-दिवा प्लेटफार्म पर टहलने लगे। पहले से डब्बे रिजर्व करा लो, तो कोई झंझट नहीं। सिगनेल ने सिर झुकाया। गाड़ी आई। चढ़ बैठे, नहीं तो भीड़-भाड़ में धक्कम-धक्के, ठेलमठेले, टाँय-टाँय, चख-चख, ले-ले, दे-दे, तू-तू, मैं-मैं, हाथ-हाथ ही नहीं, लप्पड़-थप्पड़, धौल-धप्पे, चपत-तमाचे, चौंटे-चटाके, घूँसा टें-मुक्के, लात-जूते, जूती पैजार, मार-पीट तक की नौबत पहुँच जाती है। पर तो भी गाड़ी में गुजर नहीं। घंटी बजते सीटी हुई, और गाड़ी यह गई, वह

गई। कुलियों की कामना पूरी करने में कोताही की, और इज्जत हुई। इससे स्टेशन-मास्टर से ले मेहतर तक का मुँह मीठा करना मुसाफ़िरों के लिये मुफ़ीद है। तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरों से ही रेलवेवालों का रोज़ी-रुज़गार, रोटी-रोटी चलती है, और घर भरता है; पर तो भी उनके सुख-दुःख का पूछनेवाला कोई नहीं, और न कोई उनकी खोज-खबर ही लेता है। सचमुच उनका धनी-धोरी कोई नहीं है। गरमी के मौसम में पथिक पिपासा से पीड़ित हो पुकारते-पुकारते पसीने-पसीने हो जाते हैं; पर पानीपाँड़ेजी (चाहे वह कोरी-चलवार ही क्यों न हों) टस-से-मस नहीं होते। कृपा कर आए भी, तो डोल, बाल्टी, लोटा खाली दिखा रफ़ूचक्कर हो जाते हैं। मुसलमानों के सक्के या भिस्ती सुराही-गिलास लिए पहले गोरे गार्ड-ड्राइवरों के ढिग जाते। पीछे मरुस्थल मुसाफ़िरों का मुआइना करते हैं। यही नहीं, गाड़ियाँ लड़ गई या आपस में उनकी टक्कर हो गई, तो जान की जोखिम है। प्राण-पखेरू के उड़ने में विलंब नहीं होता।

अच्छा, अब आगे का हाल-अहवाल सुनिए। बरात के डेरा डालते ही बेटी के बाप पर बेभाव पड़ने लगती हैं। वह बेचारा बराती-घराती, आए-गए, पहुँ-पाहुने, न्योतहारी-व्योहारी, दोस्त-आशना, गुरु-पुरोहित, सगे-संबंधी के आव-भाव, आदर-सत्कार, खिलाने-पिलाने-सुलाने के प्रबंध में ही लग जाता है। गरजने-बिछाने, बकने-भूकने, समझाने-बुझाने और गुड़-शाही

से तबीयत हैरान-परेशान रहती है। सुबह-शाम, साँझ-सबेरे जब देखो, तब वही बात। अकेले की आफत है। जो धन-जन से भरा-पूरा है, उसकी कुछ मत पूछो। भगवान् का हल भूत जोतना है। गरीबों को भगवान् का ही भरोसा है। उनका बेड़ा वही पार करता है। इसलिये हिम्मत हारने या मन मारने की जरूरत नहीं। घर औरतें गीत गाने, गाली गाने, सीठने सुनाने, सिंगार-पटार करने और चोटी-पाटी, मेंहदी-महावर, मिस्सी-सुरमे में ही मस्त रहती हैं। उन्हें फ़ालतू बातों से क्या मतलब! खैर, शुभ समय में कन्या-दान हुआ। मातृका-पूजन, शाखोच्चार, सप्तपदी, पाद-प्रक्षालन, मधुपर्क, सिंदूर-दान आदि शास्त्रोक्त रीतियाँ यथासमय की गईं।

माँगर-मड़वे, तेलनाई, कुँवर-कलेवे, बत्ती मिलाई, गूँथ-खुलाई, पत्तल-बदलौअल, टीका-पटा, पाँवपखरावनी आदि स्त्रियाचारों में कुछ कोर-कसर या गलती-भूल नहीं रही, यहाँ तक कि गोबर-गणेश की पूजा भी पहले ही विधिवत् कर दी गई थी। वर-वधू को बधाइयाँ और मुबारकबाद मिला। दोनो ओर वारे-न्यारे हुए। खर्च-वर्च हैसियत के हिसाब से करना ही होशियारों का उसूल है। नहीं तो ब्याह बाद पत्तर भारी हो जाती है।

इसके बाद जेमाजूठी, ज्योनार-भोज, भोजन-छाजन की बारी आई। आहारे व्यवहारे लज्जा न कारे। लाचार निलज्ज हो ज्योना खाने लोग चले आए। पहले पानी-पत्तर, जल-पत्तल परोसने की पुरानी प्रथा है। अब साथ में लोटा-गिलास लाने की चाल

चल रही है। इसलिये किसानों, सकोरों और पुरवों का प्रबंध
जाता है। कथा-वार्ता, नियरे-सगरे, आमिष-निरामिष का विच
बेहद बढ़ गया है। 'पृथक्पाकम् पयःपाकम' के भी प्रेमी हैं।
कान्यकुब्जों की कहानी अकथ है। वे तीन जने इकट्ठे हो ते
चूल्हे चाहते हैं। बेटी-रोटी-व्यवहार का यहाँ बड़ा बखेड़ा
पर हम चौबे-चतुर्वेदियों की चाल निराली है। इनकी मथुर
न्यारी है। यहाँ भेद-भाव नहीं। सब साथ खाने-पीनेवाले
हाँ, लकीर के फ़क़ीर ज़रूर हैं। टीका लगाए बिना इनका
नहीं चलता। यथास्थान सबके आसीन हो जाने पर परोसने
ने पाक-प्रणाली के अनुसार परिवेषण प्रारंभ किया। मैं भी
सब्ज़ी और साग-तरकारी से ही शुरू करता हूँ। सी

रसीला-मटीला आलू, आलू-परवल-पालक, कोंहड़ा-
करैला-केला-करमकल्ला-कचालू, तुरई-मुरई, मूली-मटर, पपी
तरोई, नेनुआँ, गोभी-गाजर-अरवी, करैले की कलौंजी,
की कलियों का रायता, आलू और आम का अचार,
चटनी, चटपटी चटनी, आम-आमले का मुरब्बा,
कान्यकुब्जों की कढ़ी, करायल, पपची-पान।

**कच्ची**

चावल-दाल, रोटी-पूरी, खीर-ख़ोर, खीर-पूरी,
निमोना, खिचड़ी के चारो यार—घी, दही, पापड़
तिलौरी, फुलौरी-पकौरी, तरी-बरी, रसखी

## पक्की

पूरी-कचौरी, पूरी-परायठा, पूरी-तरकारी, दिलखुशहाल-सुहाल, रबड़ी-बसौंधी, लड्डू-पेड़ा, मोहनभोग-मालपूआ, सोहन-हलुआ, समोसा, बुंदियादाना, परवलत्ती, गुपचुप, बादाम की बर्फी, कलाकंद, खाजा-खुरमा, गुलगुला, बड़ा, पापड़, मटर की छीमी, बालाई-मलाई, इमरती-इंदरसा, गुलाबजामन-जलेबी, गुटेटा, उलटा चीला, मोनांचूर-मगदल, मेवा-मिठाई, दूध-दही, मक्खन-मिसरी, नवनीत, मिष्ठान्न, पक्वान, शाकान्न, चव्य-चोष्य, लेह्य-पेय पदार्थों के सिवा मीठे-सीठे, खट्टे-चरपरे, कड़ुए-कसैले, तीते, सारांश यह कि षट्रस की स्वादिष्ठ सामग्री संगृहीत थी।

## फल

फलाहारियों के लिये फलमूल, सेव-नासपाती, अंगूर-अनार, अंजीर-अखरोट, अमरूद-अनन्नास, आम-जामुन, केले-नारियल, सहतूत, खिन्नी, आम-इमली, नारू-नारंगी, कटहल-बड़हल, कमरख-कमलगट्टे, सीताफल-शरीफे, श्रीफल-बेल, चिरौंजी, किसमिस-पिस्ते, मुनक्के, बादाम-चिलौदाने, खीरे-ककड़ी, तरबूज और खरबूजे भी खरीदे गए थे।

मुसलमानों के लिये बावर्चियों के बनाए कलिया-कबाब, कलिया-पुलाव, कोफता-कोर्मा, शीरमाल, जरदा बिरियानी, केक-बिस्किट, चा-चीनी, मुर्ग्मुसंजन वगैरह खाने अलग दस्तरखान पर चुने गए थे।

जिसे जुरता नहीं, वह बेचारा-बापुरा गरीब दाल-दलिया

साग सत्तू, चना-चबेना, रूखा-सूखा, मोटा झोटा, मोटा-महीन, सं-पूर्ण लेकर ही समधी का सत्कार करता है।

खाना खाने, भोजन करने, भक्षण करने, भकोसने और भखने पर हाथ-मुँह धो, कुल्ला कर, खरके-तिनके से दाँत खोद कर पान-सुपारी, लौंग-इलायची, सुर्ती-जरदा तंबाकू खाना है, औ कोई चिलम-तमाकू, टिकिया-तमाकू, हुक्का-गड़गड़ा, चुरट-बीड़ी सिगरेट पीता है। नए शौक़ीन तांबूलविहार और जाननाक प टूटते हैं। मतलब यह कि बंदोबस्त बड़ा बढ़िया था। जिसने जो माँगा, वही मिला।

इसके बाद बरात विदा हुई। बरतन-बासन, बासन-कूसन, असन-बसन, जामा-जोड़ा, लहँगा-लुगरा, ओढ़ना-बिछौना, तोशक-तकिया, गहना-गुड़िया, गहना-गाँठी, रुपए-पैसे, जहेज, दान-दहेज, दमाद को दस्तूर से ज़्यादा दिए गए थे। नगदनारायण में भी न्यूनता न थी। जिन लोगों में लेन-देन की—ठहरौनी की—रीति है, उनमें बड़ा झगड़ा-झंटा, झगड़ा-बखेड़ा होता है; पर यहाँ चाँ-चपड़, गड़बड़-सड़बड़ के बिना हँसी-खुशी मामला मिटा। विदा के वक्त स्त्रियों का मिलना-जुलना, मिलना भेंटना, लिपटना, रोना-धोना देखकर पत्थर भी पसीजता था। जनाब, बेटी की विदा है या दिल्लगी! दुष्यंत के दरबार में शकुंतला को भेजते समय काननवासी कठोर कण्व का भी कलेजा काँप गया था। यह हमारा तुम्हारा नहीं, कवियों के कुलगुरु कालिदास का कथन है। खैर, बहू की विदा ले बरात बस्ती के बाहर हुई।

ौने-रौने की रस्म भी पूरी कर दी गई। जैसे गई थी, वैसे ही राजमंगल बरात घर वापस आई। बहू के निरीछन-परीछन जाने के बाद बेटे-बहू या वर-वधू का गृह-प्रवेश हुआ। ँह-पड़ाई और मुँह-दिखाई हुई। सास-ससुर, देवरानी-जिठानी, नद-नंदोई से नया नेह-नाता लगा। ससुराल में साला-सलहज, ाला-साली और साढ़ू का संबंध स्वयं सिद्ध हो जाता है।

यहाँ तक तो अनुप्रास के अन्वेषण में कृतकार्य हुआ। आगे ौन कह सकता है कि क्या होगा। पर मैं पीछे पैर देनेवाला हीं। धैर्य धारण कर दिन-दूने रात-चौगुने साहस और त्साह से हाट-बाट, घर-घाट, नदी-नाले, जंगल-झाड़ी, वन-पर्वत ी कौन कहे, देश-विदेश और सात समुद्र पार जाकर द्वीपद्वीपांतरों में दिन-दोपहर, दिन दहाड़े, रात बिरात बेरोकटोक विचरण करूँगा, और मौका मिलते ही अनुप्रास की खुशखबरी, शुभ समाचार सबको सुनाऊँगा। अभी तो गृहस्थाश्रम ग्रहण कर दार-परिग्रह ही हुआ है। उसके सुख संभोग, सुख-शांति, संतान-सुख, राग-रंग और दुःख-दारिद्र, शोक-संताप, कलह-कलेश, हर्ष-विषाद तथा जंजाल का जिक्र ही नहीं आया है। गृहस्थ को सभी भोग भोगने पड़ते हैं। यह देह का दंड है। लीलामय की लीला अपरंपार है। वह तिल को ताड़ और पर्वत का राई कर सकता है। भूतनाथ भगवान् भवानीपति अलबेले भोलानाथ का ही भारी भरोसा है कि वह भली भाँति भला करेंगे।

---

# हमारी शिक्षा किस भाषा में हो ?*

आजकल का यह प्रज्वलित प्रश्न है कि हमारी शिक्षा कि
भाषा में हो ? यदि यही प्रश्न विलायत में कोई अँगरेज करे, तो
वह अवश्य पागल समझा जायगा; क्योंकि यह प्रश्न वैसा ही
निरर्थक है, जैसा यह कि हम स्थल में रहें या जल में ! इसका
उत्तर सिवा इसके और क्या हो सकता है कि प्रकृति जहाँ व
वहा रहो। इसी प्रकार जिसकी जो मातृभाषा या देशभाषा
उसी में उसकी शिक्षा होनी चाहिए, और यही नैसर्गिक नि
भी है। पर हमारे भारतवर्ष की बात ही निराली है। यहाँ
ऐसे ही अनगढ़ प्रश्न उठा करते हैं, और उन पर खूब त
वितर्क होता है। कभी-कभी वह बातें में भी परिणत हो ज
हैं। इसी से विदेशी लोग भी कृपा कर हमारे हित के
नई-नई उद्भावनाएँ किया करते हैं। इन हितचिंतक नामधा
की हम प्रशंसा करें या निंदा, यह अभी तक हमारी सम
नहीं आया है। कुछ दिनों से हमारे एक नए हितचिंतक उ
हो गए हैं। आपका नाम रेवरेंड जे० नोल्स है। आपकी
है कि भारत में राष्ट्र-लिपि होने के योग्य यदि कोई लि
तो वह रोमन ही है। आप राय देकर ही चुप नहीं हुए, परो

* संवत् १९७४ में जबलपुर के सातवें हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में पठित।

ार से प्रेरित हो उसके लिये परिश्रम भी कर रहे हैं, क्योंकि आप
ादड़ी हैं, परोपकारी हैं, और पथ-प्रदर्शक हैं। यह रोमन लिपि
सी है, यह आगे चलकर बतलाऊँगा। अभी दिग्दर्शन के लिये
तना ही कहना अलम् होगा कि किसी ने रोमन में लिखा 'अच्युत-
साद' और एक अंगरेज प्रिंसिपल ने उसे पढ़ा 'ए च्यूटा प्रसाड !'
अच्छा, अब मैं अपने प्रश्न की ओर आता हूँ। सारे भारत-
र्ष का विचार छोड़कर अपने हिंदी-भाषी प्रदेशों की ही बात
ाज कहता हूँ। यहाँ विधि-विड़ंबना से अँगरेजी, उर्दू और
हंदी, इन तीन भाषाओं का तिगड्डम हो गया है। इसी से
श्न उठता है कि हमारी शिक्षा अँगरेजी में हो या हिंदी-उर्दू
ों। अँगरेजी राजभाषा है, हिंदी मातृभाषा और उर्दू को
ाल-भात में मूसलचंद की भाषा के सिवा और क्या कहें ?
क्योंकि यह न राजा की भाषा है, और न प्रजा की। हिंदी-
र्दू की बात फिर कभी कहूँगा। आज राजभाषा अँगरेजी
ा ही गुणगान करता हूँ। इसमें संदेह नहीं कि हमारा भारत-
र्ष एक विचित्र देश है। विदेशी चाल-चलन, रहन-सहन,
ीति-नीति, भाषा-भेष आदि सीखने में जैसा यहबहादुर है,
ैसा और कोई देश नहीं। और बातें छोड़कर आज मैं भाषा
े संबंध में ही कुछ कहूँगा। जो भाषा हमारी आत्मा के,
हमारे शारीरिक संगठन के संपूर्ण प्रतिकूल है, उसे एक मनुष्य
नहीं, एक जाति नहीं, सारा देश ग्रहण कर बैठा है। पोशाक
जातीयता का जैसा चिह्न है, भाषा भी वैसे ही है। जिस देश

का जैसा जल-वायु होना है, वहाँ की पोशाक भी वैसी ही है
है। भाषा की भी यही दशा है। शरीर और मुख की बन
से भाषा का बड़ा गहरा संबंध है। मनुष्य-जाति का सं
देश-काल-पात्र के अनुसार होता है। इसी से सब जा
का चाल-चलन एक-सा नहीं है। जैसा देश, वैसा वेश।
भी देश के अनुसार ही बनती है। इन सबकी बनानेवा
दैवी प्रकृति( Natune ) है। वह एक दिन में नहीं, वर्ष
में देश के जल-वायु के अनुकूल वेश और भाषा तैयार कर दे
है। किसी की खाल खींचना उसे जान से मार डालना
उस पर दूसरे की खाल चढ़ाना असंभव है, एक जाति
पोशाक छीनकर दूसरे को पहना देना संभव है; पर परि
इसका भी वैसा ही है। भाषा के बारे में भी यही बात
गरम मुल्कवाले ढीला-ढाला महीन कुरता पहनते हैं, और
मुल्कवाले काला, मोटा, चुस्त कोट तथा पैंट। उत्तरी ध्रु
निवासी मलमल का ढीला-ढाला कुरता पहने, तो वह ज
जकड़ जायगा, और सहारावासी मोटा ऊनी कोट पह
वह गरमी से घबरा जायगा। हमारे स्वास्थ्य और शा
लिये विदेशी परिच्छद जितना हानिकारक है, उतनी ही
सिक शक्ति के लिये विदेशी भाषा। जो भाषा हमारी
के, हमारे मानसिक और शारीरिक गठन तथा हमा
और विचारों के बिल्कुल विपरीत है, उसे दबाव में
ग्रहण करना कैसा भयानक कार्य है।

भारत की प्रायः सब भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं। संस्कृत विशुद्ध और सरल भाषा है। अतएव उससे निकली हुई भाषाएँ भी विशुद्ध और सरल हैं, इसमें संदेह नहीं। कुछ लोगों का अनुमान है कि अँगरेज़ी का भी उद्गम-स्थान आर्यभाषा संस्कृत ही है, क्योंकि इसमें लैटिन और ग्रीक भाषाओं के साथ संस्कृत की भी पुट है। यदि यही बात है, तो मैं कहता हूँ कि अँगरेज़ी अनार्य भाषा से निकली है, क्योंकि इसमें अनार्य भाषा के भी बहुत-से शब्द हैं। संस्कृत से अँगरेज़ी कदापि नहीं निकली है।

हमारी संस्कृत-भाषा उन महात्माओं की बनाई है, जो भाषा-विज्ञान के पारदर्शी थे। इसी से यह सर्वांग-सुंदर है। वर्ण, मात्रादि जितने अंग भाषा के हैं, वे सब इसमें पूर्ण रूप से हैं। अपूर्णता की तो इसमें गंध तक नहीं। इसका व्याकरण पूर्ण और नियम सुदृढ़ हैं—ऐसे सुदृढ़ कि उन्हें तोड़ने का कोई साहस नहीं कर सकता। क्या अँगरेज़ी में भी ऐसा कोई पक्का नियम है? कदापि नहीं। अँगरेज़ी भाषा में न तो नियम हैं, और न व्याकरण। है केवल गड़बड़झाला। उच्चारण, शब्द-रचना, वाक्य रचना, वर्ण-विन्यास (Spelling) आदि की विभिन्नता ही इसका प्रमाण है।

संस्कृत की शिक्षा-प्रणाली वैज्ञानिक और नियमानुकूल है; परंतु अँगरेज़ी की ठीक इसके विपरीत। इसीलिये अँगरेज़ी शिक्षा हमारी मानसिक शक्ति पर व्याघात पहुँचाने के सिवा

और कुछ नहीं करनी। अँगरेज़ी पढ़ना अपना शरीर नष्ट करना है। स्वभाव के विरुद्ध आचरण करने का यही फल है। जिन्हें इस बात का विश्वास न हो, वे आँखें खोलकर अँगरेज़ी शिक्षित समाज को देख लें। किसी की आँखें खराब हो गई हैं, तो किसी का हाज़मा बिगड़ गया है, किसी को मंदाग्नि है तो किसी को और कुछ। मतलब यह कि प्रायः सभी दुर्बल और बल-हीन मिलेंगे। चर्मचक्षुओं पर चश्मा लगाने की तो चाल-सी चल पड़ी है। इनमें कुछ तो शौक़ से आँखें रहते अंधे बनते हैं; पर बाक़ी अँगरेज़ी-शिक्षा का ही फल भोगते हैं।

हमारी शिक्षा वैज्ञानिक कैसे है, यह संस्कृत और अँगरेज़ी की वर्ण-मालाएँ मिलाकर देखने से ही मालूम हो जायगा। आपको संस्कृत की वर्ण-माला पूर्ण और अँगरेज़ी की अपूर्ण मिलेगी। संस्कृत के अक्षर सीधे-सादे और पूरे हैं। प्रत्येक अक्षर की एक विशेष ध्वनि है—जैसी ध्वनि, अक्षर भी वैसा ही। अहा! ज़रा देखिए तो सही कि ये अक्षर कैसी सुंदरता और नियम से बनाए गए हैं। व्यंजन पाँच वर्गों में विभक्त हैं—क, च, ट, त और प। ये ही पाँच वर्ग हैं। क वर्ग का उच्चारण जिह्वा के मूल से होता है, अर्थात् कंठ से और च वर्ग का तालु से। यह स्थान कंठ से ज़रा आगे है। ट वर्ग का उच्चारण मूर्द्धा से होता है। यह तालु के ज़रा आगे है, त वर्ग का होठों से होता है। ये स्थान भी क्रमशः आगे बढ़ते आए हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग के अक्षर

क्रमानुसार रक्खे गए हैं। स्वरों को भी देख लीजिए। उच्चारण के अनुसार उनका भी क्रम है।

अब जरा अँगरेजी अक्षरों की कथा सुन लीजिए। वे पूरे हैं या अधूरे, यह मैं कुछ न कहूँगा। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि उसमें त वर्ग नहीं है। वहाँ एक ही अक्षर को कई अक्षरों के काम करने पड़ते हैं। इसी से आपको जो कुछ समझना हो, समझ लें। कई अक्षरों की ध्वनि अस्पष्ट और गड़बड़ है। I, U, Y, W, X, V, Z इसके नमूने हैं। आप ही कहिए, इनके उच्चारण में भला कौन-सा नियम है ? क्रम भी 'तथैवच' है। व्यंजनों का उच्चारण और भी गजब ढाता है। हमारे यहाँ प्रत्येक व्यंजन के अंत में अ है, पर अंगरेजी में इसका कोई नियम नहीं। किसी के आगे A (ए) है, तो किसी के पीछे E (ई)। अक्षरों का क्रम भी माशाअल्लाह है ! 'अ' का पता ही नहीं, और (A) आ बैठा है। न E (ई) का ठिकाना, और न ब का; पर A (ए) के बाद B (बी) विराज रही है। अगर कोई पूछ बैठे कि यह B (बी) कहाँ से आ टपकी, तो अँगरेजीवाले क्या जवाब देंगे ? यह सब कोई जानते और मानते हैं कि स्वर की सहायता बिना व्यंजन का उच्चारण नहीं हो सकता। E (ई) की सृष्टि अभी हुई नहीं, और न ब का ही जन्म हुआ, फिर इन दोनों का योग कैसे हो गया ! क्या यह आश्चर्य की बात नहीं ! W (डबल्यू) कभी स्वर और कभी व्यंजन माना जाता है। इसके व्यंजन होने

और कुछ नहीं करती। अँगरेज़ी पढ़ना अपना शरीर नष्ट करना है। स्वभाव के विरुद्ध आचरण करने का यही फल है। जिन्हें इस बात का विश्वास न हो, वे आँखें खोलकर अँगरेज़ी शिक्षित समाज को देख लें। किसी की आँखें ख़राब हो गई हैं, तो किसी का हाजमा बिगड़ गया है, किसी को मंदाग्नि है तो किसी को और कुछ। मतलब यह कि प्रायः सभी दु और बल-हीन मिलेंगे। चर्मचक्षुओं पर चश्मा लगाने की तो चाल-सी चल पड़ी है। इनमें कुछ तो शौक़ से आँखें रहते अंधे बनते हैं; पर बाक़ी अँगरेज़ी-शिक्षा का ही फल भोगते हैं।

हमारी शिक्षा वैज्ञानिक कैसे है, यह संस्कृत और अँगरेज़ी की वर्ण-मालाएँ मिलाकर देखने से ही मालूम हो जायगा। आपको संस्कृत की वर्ण-माला पूर्ण और अँगरेज़ी की अपूर्ण मिलेगी। संस्कृत के अक्षर सीधे-सादे और पूरे हैं। प्रत्येक अक्षर की एक विशेष ध्वनि है—जैसी ध्वनि, अक्षर भी वैसा ही। अहा! ज़रा देखिए तो सही कि ये अक्षर कैसी सुंदरता और नियम से बनाए गए हैं। व्यंजन पाँच वर्गों में विभक्त हैं—क, च, ट, त और प। ये ही पाँच वर्ग हैं। क वर्ग का उच्चारण जिह्वा के मूल से होता है, अर्थात् कंठ से और च वर्ग का तालु से। यह स्थान कंठ से ज़रा आगे है। ट वर्ग का उच्चारण मूर्द्धा से होता है। यह तालु के ज़रा आगे है, त वर्ग का होठों से होता है। ये स्थान भी क्रमशः आगे बढ़ते आए हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग के अक्षर

क्रमानुसार रक्खे गए हैं। स्वरों को भी देख लीजिए। उच्चारण के अनुसार उनका भी क्रम है।

अब ज़रा अँगरेज़ी अक्षरों की कथा सुन लीजिए। वे पूरे हैं या अधूरे, यह मैं कुछ न कहूँगा। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि उसमें त वर्ग नहीं है। वहाँ एक ही अक्षर को कई अक्षरों के काम करने पड़ते हैं। इसी से आपको जो कुछ समझना हो, समझ लें। कई अक्षरों की ध्वनि अस्पष्ट और गड़बड़ है। I, U, Y, W, X, V, Z इसके नमूने हैं। आप ही कहिए, इनके उच्चारण में भला कौन-सा नियम है ? क्रम भी 'तथैवच' है। व्यंजनों का उच्चारण और भी गज़ब ढाता है। हमारे यहाँ प्रत्येक व्यंजन के अंत में अ है, पर अँगरेज़ी में इसका कोई नियम नहीं। किसी के आगे A ( ए ) है, तो किसी के पीछे E ( ई )। अक्षरों का क्रम भी माशाअल्लाह है ! 'अ' का पता ही नहीं, और ( A ) आ बैठा है। न E ( ई ) का ठिकाना, और न ब का; पर A ( ए ) के बाद B ( बी ) विराज रही है। अगर कोई पूछ बैठे कि यह B ( बी ) कहाँ से आ टपकी, तो अँगरेज़ीवाले क्या जवाब देंगे ? यह सब कोई जानते और मानते हैं कि स्वर की सहायता विना व्यंजन का उच्चारण नहीं हो सकता। E ( ई ) की सृष्टि अभी हुई नहीं, और न ब का ही जन्म हुआ, फिर इन दोनों . . . कैसे हो गया ? क्या यह आश्चर्य की बात नहीं ? कभी स्वर और कभी व्यंजन माना

में तो कुछ संदेह नहीं, पर यह स्वर कैसे हो गया, यही आश्चर्य है। एक विचित्र बात और भी है, इसका नाम तो है डब्लू याने दो यु, पर ई ( E ) के साथ इसका संयोग होते ही यह 'वी' ( We ) हो जाता है। U तो S के साथ मिलकर 'अस' होता है, फिर डबल्यु, ई (WE) 'वी' कैसे हो गया! इसे तो 'यूई' होना चाहिए था। खैर, हमारे अक्षरों में ये सब दोष नहीं हैं। ये सरल हैं। इन्हें एक बच्चा भी अनायास सीख सकता है, क्योंकि ये वैज्ञानिक रीति से बनाए गए हैं। इसी से इनमें सरलता आ गई है। सरलता का ही नाम विज्ञान है।

अब तनिक अँगरेजी शब्दों का मुआइना कीजिए। एक ही शब्द में कई प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं। नमूने के लिये Foreigner हाजिर है। इसमें चार स्वर हैं। इन चारों के उच्चारण की ओर ध्यान दीजिए। वर्णमाला में उनके जो उच्चारण हैं, यहाँ उनसे बिलकुल विलक्षण। एक व्यंजन का तो उच्चारण ही लोप है। कहिए, कैसी अद्भुत भाषा है। भला ऐसी भाषा के अध्ययन में अपना समय लोग क्यों नष्ट करते हैं? अँगरेजी भाषा में जो शब्द लैटिन या ग्रीक भाषाओं से आए हैं, उनमें उपसर्ग और प्रत्यय ( Prefixes and suffixes ) लगते हैं, और उनका विशेष अर्थ धातुओं के अनुसार हमारी भाषा की तरह नियम से होता है। पर अँगरेजी ( Anglo saxon ) के जो विशुद्ध शब्द हैं, उनके बारे में कुछ मत पूछिए। उनकी बनावट में बड़ा गड़बड़ाध्याय है। नियम का तो वहाँ नियम

ही नहीं है, और न व्युत्पत्ति का कोई ठिकाना। मनमानी-घरजानी है। अंगरेज़ी-भाषा के विशुद्ध शब्द बलवान् (Strong) कहलाते हैं, पर हैं वे नियम-विरुद्ध। जो नियम-बद्ध हैं, उनका नाम है दुर्बल (Weak)। नियम-विरुद्धता के मानी बलवत्ता और नियम-बद्धता के मानी दुर्बलता है। भाव-प्रकाश करने का कैसा अच्छा ढंग है!

जहाँ भाव का अभाव है, वहाँ शब्दों का भी है। अंगरेज़ी-भाषा पहले नितांत दरिद्र थी। इसी से अन्य भाषाओं के शब्दों से उसे अपना पेट भरना पड़ा है। संसार में आर्य या अनार्य, ऐसी कोई भाषा नहीं, जिससे इसने ऋण न लिया हो। पर इसमें भी बड़ी चालाकी है। अन्य भाषाओं के शब्द इस तरह तोड़े, फोड़े और मरोड़े गए हैं कि उनके असली रूप का पता लगाना कठिन हो गया है। उदाहरण के लिये Orange सामने है। कहिए, इसका मूलरूप क्या है? मैं समझता हूँ, नारंगी ने ही Orange का रूप धारण किया है।

अब इसके रूपांतर की राम-कहानी भी ज़रा सुन लीजिए। किसी चतुर अँगरेज़ के हाथ एक नारंगी लगी। उसने अपनी लिपि में उसे A norangi लिखा। कुछ दिनों के बाद a norangi का N (एन्) A (ए) के साथ जा मिला। तब a norangi की an orangi बन गई। बिंदी घिस जाने से i (आई) की e (इ) हो गई। बस, a norangi का ख़ासा An orange बन गया। कहिए, कैसा जादू है। इसी तरह और शब्दों का भी काया-कल्प हुआ

ख बढ़ जाने के भय से केवल एक ही उदाहरण
है। इस कायाकल्प की चाल हिंदी, बँगला आदि
ओं में भी है, पर देववाणी संस्कृत में नहीं।

ब ज़रा अँगरेज़ी-व्याकरण की लीला देखिए!
हुवचन बनाने का कोई पक्का नियम ही नहीं है
हुवचन Loaves है, पर Hoof का बहुवचन है
तरह man का men, Boy का Boys, m
ce और Cow का Kine होता है।

लिंग प्रकरण में भी वही गड़बड़झाला है। असली
ल्लिंग शब्दों के स्त्रीलिंग बनाने में विकार नहीं होत
ांतर हो जाता है। जैसे Bachelor का Mai
Roe, King का Queen आदि। पर Em
mpress और Actor की Actress आदि का भ
र लीजिए। ये विदेशी शब्द हैं। अंगरेज़ी-वैय
निभा स्त्रीलिंग के लिये नए-नए शब्द गढ़ते-गढ़ते
हो गई, तो पुंलिंग और स्त्रीलिंग का भेद बताने के
शब्दों में He, she, man, maid; cock, He
की प्रथा निकाली। जैसे He-goat का she-g
servant का maid-servant और cock-s
Hen-sparrow आदि।

उच्चारण और वर्ण विन्यास की दशा और भी हा
इसके लिये न तो कोई नियम है, और न कायदा

वचन का भरोसा है। जैसा सुनो, वैसा कहो। भला
दस्ती का भी कुछ ठिकाना है। जी+ओ=गो ( go
डी+ओ=डू ( do ); एच्+ई+आर+ई=हीअर (
और टी+एच्+ई+आर+ई=देअर ( There ); डी+
आर=डोयर ( Deer ) और डब्ल्यू+डबल ई
( Week ), डी+ई+ए+आर=डीयर ( Dear )
क्या कोई नियम है ? 'जी' के साथ तो 'ओ' का ओ
पर 'डी' के साथ 'ऊ' हो गया। एच्+ई+आर+
( हियर ) होता है, तो टी+एच्+ई+आर+ई=
चाहिए। जब w, e, a, k वीक होता है, तो d, e,
न होकर डीयर क्यों हुआ ? w, e, e, k वीक हो
d, e, e, r डीर होना उचित था। पर क्यों ऐसा
यह भगवान् ही जानें। c के उच्चारण में भी बड़ी
कहीं तो वह 'क' ( k ) का काम देती है, और कह
जैसे Circumference, इस एक ही शब्द में
ने दो रूप धारण किए हैं। अगर कहा जाय कि शब्द
में 'सी' ( c ) का उच्चारण 'स'-जैसा, और मध्य में
होता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि हमारे Ca
ऐसा नहीं होता। यहाँ आदि और मध्य, दोनो जगह
ने 'क' का रूप धारण किया है। एक बात और है। ज
और कानपुर में 'सी' ( c ) का साम्राज्य है, तो क

वर्ण-विन्यास का व्यतिक्रम और उचारण की उच्छृंखलता। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ। इन कारणों से ही यह भारतवर्ष के उपयुक्त भाषा नहीं है। इसे पढ़ना अपने समय और शक्ति का सत्यानाश करना है। केवल यही नहीं, इससे स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचती है। अंगरेज़ी-भाषा हमारी मानसिक शक्ति को दुर्बल कर डालती है। इससे हमारी सभी उन्नति नहीं होती, उल्टे उसमें रुकावट पहुँचती है। बालकों को मातृभाषा में गणित, विज्ञान, भूगोल और इतिहास पढ़ाने से वे बहुत जल्द समझ लेते हैं, पर वे ही चीज़ें अँगरेज़ी में पढ़ाने से कठिन हो जाती हैं। लड़के उन्हें जल्द नहीं समझ सकते। किसी लड़के से मौसमी हवा (Monsoon) के बारे में पूछिए, तो वह अँगरेज़ी में ठीक-ठीक उत्तर दे देगा, पर हिंदी में समझाने कहिए, तो उसकी नानी मर जायगी, क्योंकि उसने स्वयं समझा नहीं, तोते की तरह केवल रट लिया है।

जो विषय कॉलेज के छात्र भी नहीं समझ सकते, उन्हें मातृ-भाषा में बताने से हमारे छोटे-छोटे बच्चे अनायास समझ लेते हैं। हम भारतवासियों के लिये अँगरेज़ी-जैसी दुरूह भाषा में किसी विषय का सीखना बड़ी कठिनता का काम है। दुर्भाग्य है ... को विदेशी भाषा पढ़ने के लिये लाचार करना बड़ा अन्याय ... भी दोष हमारा ही है। आजकल हमारी अवस्था ... है, उसमें हम अँगरेज़ी पढ़े ... नहीं कर

सकते। जो कुछ पाश्चात्य विज्ञान और शिल्प
है, वह इसी अँगरेजी के अनुग्रह से। अनएव
होना चाहिए। अभी हमें बहुत कुछ सीखना च
भाषा जरूर सीखनी चाहिए, पर उसके अध्ययन
नहीं, क्योंकि इसके अध्ययन से विशेष कुछ ल
तत्त्वविद् भले ही इसका अध्ययन करें, पर सब
लिये परिश्रम करने की क्या जरूरत है? इसमें
हैं, उन्हें सीखना ही हमारा उद्देश्य है, कुछ भा
नहीं। फिर क्यों हम अपना समय, स्वास्थ्य
अध्ययन में नष्ट करें? इससे क्या लाभ होग
ऐसे मनुष्य भी हैं, जो अँगरेजी-भाषा की बारीकि
जानने के लिये अपना सारा समय और सारी श
वे केवल नाम पैदा करने के लिये ऐसा करते है
इस परिश्रम से अँगरेजी-भाषा को उन्नत कर
जो ऐसा विचार करते हैं, वे भूलते हैं। अँगरे
लिये अँगरेजों को ही छोड़ दीजिए। आप अप
उधर की अपेक्षा इधर आपको नाम पाने का
जो कुछ थोड़ा-सा उत्साह आपके पास है, उ
व्यर्थ नष्ट मत कर दीजिए।

अब प्रश्न यह है कि अँगरेजी-भाषा हमें सीख
सी भाषा सीखनी चाहिए? चॉसर की या शेक्स

सेकेंड होने के कारण वे शेख़ी मारते, तो मैं कहता—"आओ
कुश्ती लड़ लो।" इस पर हँसकर वे चुप हो जाते थे। जो इस
रहता था, वह एंट्रेंस से बी० ए० तक बराबर फ़र्स्ट डिवीज़
में पास होता गया। एंट्रेंस तथा एफ़० ए० में उसे छात्रवृ
भी मिली थी। उस समय इन परीक्षाओं के यही नाम थे
बी० ए० पास करने पर वह मुझसे मिला था। वह बहुत क
ज़ोर हो गया था। उसके गले से अक़सर ख़ून गिरता
पीछे वह विलायत चला गया। अब मालूम नहीं, उसकी
दशा है, और वह कहाँ है। जो सेकेंड होता था, वह, अफ़
के साथ कहना पड़ता है, अब दुनिया में नहीं है। एंट्रेंस
एफ़० ए० की परीक्षाओं में तो वह पहली बार ही उत्ती
गया था, पर बी० ए० में आकर अटक गया। रटनेवालों
प्रायः यही दशा होती है। तीन-चार बार फ़ेल होकर वह
हुआ सही, पर उसकी तंदुरुस्ती पहले ही जवाब दे चुकी
आख़िर, वह थोड़े ही दिनों में चल बसा। वहीं एक बी०
पास मास्टर थे, जो बहुत अच्छी अँगरेज़ी लिखते थे, पर
नीरोग कभी नहीं देखा। एक-न-एक रोग उन्हें घेरे
था। छात्रावस्था में अधिक श्रम करने के कारण ही
दशा थी। भागलपुर में एक
पर सदा बीमार रहते

से ज़्यादा खा लेते थे, पर पीछे बीमार हो जाते थे। इसी न्होंने ऐसा नियम बना रक्खा था। न स्वादिष्ट भोजन ा, और न ज़्यादा खाकर बीमार पड़ेंगे। ऐसे एक नहीं, क उदाहरण दिए जा सकते हैं, पर विस्तार-भय से । बस करता हूँ। देखिए, कैसी रक्त चूसनेवाली हमारी वर्सिटियाँ हैं! इनके मारे हमारे बच्चे दिन-पर-दिन दबते चले ते हैं। जब तक इनका सुधार न होगा, उन्नति का नाम ा ही वृथा है। इन युनिवर्सिटियों की तरफ़ देखकर जब रने होनहार बच्चों की ओर देखता हूँ, तो होश उड़ जाते । अंगरेज़ी पढ़ना ही बुरा नहीं, उसके पढ़ाने की प्रणाली बुरी है। इस प्रणाली से मनुष्य की मानसिक शक्ति बढ़ने बदले और घट जाती है। पढ़नेवालों पर पुस्तकों का इतना झ लाद दिया जाता है कि वे वहीं दब जाते हैं। वे शेर ने के बदले गीदड़ हो जाते हैं। स्वर्गीय बाबू हरिश्चंद्र, ० प्रतापनारायण मिश्र, पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, बाबू बालमुकुंद स आदि जिन सज्जनों का स्मरण हम श्रद्धा और प्रेम से रते हैं, वे अगर विश्वविद्यालय का मुख देख लेते, तो शायद ाज मुझे उनके नाम लेने का भी अवसर हाथ न लगता। ह लेख हिंदी का है, इससे मैंने केवल हिंदी के ही लेखकों और कवियों के नाम लिए हैं। विस्तार-भय से

सच्ची-सी बात यह है कि जापान के हाथ में जो सब [illegible] और मौके हैं, वे हमारे हाथ में नहीं हैं। अगर होते, तो [illegible] हम कुछ न कर दिखाते? जरूर कर दिखाते। जापान की ओर देखते हैं, तो लज्जा से गर्दन नीची हो जाती है। [illegible] जहाँ-के-तहाँ खड़े हैं, और वह सरपट भाग रहा है। हम दौड़ें कैसे? हमारे तो पैरों में जंजीर और सिर पर बोझ है। [illegible] पाश्चात्य विज्ञान सिखाने की चेष्टा कर रहा है, पर हम उससे लाभ उठाने में असमर्थ हैं।

मैंने जो कुछ कहा, उसका यह मतलब नहीं कि आज ही सब लड़के स्कूल-कॉलेजों से नाम कटवा लें, और हम अँगरेजी का बहिष्कार कर दें। मेरा कहना यही है कि लोग आँखें मूँद कर अँगरेजी न पढ़ें, और न उसके पीछे पागल हो जायँ। बोलने-चालने और लिखने-पढ़ने योग्य अँगरेजी अवश्य सीखें क्योंकि यह राजभाषा है। इसके जाने बिना हम कोई काम आजकल नहीं कर सकते। हाँ, अध्ययन की आवश्यकता नहीं। जो भाषाविद् होना चाहें, वह कर सकते हैं। सबके लिये इसकी पाबंदी न होनी चाहिए। मेरी तुच्छ सम्मति है कि फ्रांस, जर्मनी [illegible] इँगलैंड की इतिहास, जीवन-चरित, विज्ञान और शिल्प-कला [illegible] अच्छी-अच्छी पुस्तकों का हिंदी में उल्था हो, और वे [illegible] जायँ। विश्वविद्यालयों में अँगरेजी गौण भाषा हो, और इच्छा पर रहे। उसके पढ़ने के लिये जबरदस्ती न की जाय। जिस प्रांत का वासी [illegible] उसी

भाषा में हो, पर साधारण शिक्षा हिंदी में, क्योंकि यह
सिद्ध हो चुकी है।

हिंदी-भाषा-भाषी हिंदुओं की आशा और भरोसा माननीय
जी के हिंदू-विश्वविद्यालय पर था। उसके हिंदी हीन
से हिंदू हताश हो हिम्मत हार बैठे हैं*। वहाँ अंगरेज़ी
आधिपत्य अवलोकन कर सब लालसाओं पर पाला पड़
। अब सम्मेलन को सचेष्ट हो सदुद्योग करना चाहिए,
हिंदी में हमारी शिक्षा हो। जब तक मातृभाषा में हमारी
न होगी, हम कदापि उन्नति न कर सकेंगे। उन्नति का
मातृभाषा में सब विषयों की शिक्षा है।

ी के विषय में मेरा क्या सिद्धांत है, यह सुनाकर इसे
करता हूँ।

कहने का यह तात्पर्य नहीं कि विश्वविद्यालय के
य निकम्मे होते हैं। पर इतना अवश्य कहूँगा कि
अधिक है।

धान उद्देश्य अँगरेज़ी-भाषा सीखना होना चाहिए,
यन करना नहीं। अँगरेज़ी-कविता सबको पढ़ने
ी क्या है? क्या हमारी भाषा में कविता नहीं है!
का एक-एक शब्द विदेशी भाषा की बड़ी-बड़ी
तुल्य है। हमारे यहाँ आलंकारिक भाव इतने हैं
क चलेंगे। काव्यों की आवश्यकता उन्हें ही होती
ी अत्यधिक चचल प्रकृति को शांत और स्वस्थ
ते हैं। हम लोगों को तो काव्य की अधिकता ने
तथा प्राण-हीन बना डाला है। हमें अगर कुछ
उत्तेजना की। वह शिल्प और विज्ञान के रूप
ए। सरल भाषा में शिल्प, विज्ञान, इतिहास और
आदि की पुस्तकें हमें पढ़ाई जानी चाहिए। हमें
य नहीं चाहिए, और न हमें उससे कुछ

ज़ी-साहित्य पढ़ना ही है, तो हमें एडीसन और
ों की रचनाएँ पढ़नी चाहिए—जॉनसन,
ल्स और कारलाइल ( Carlyle ) की नहीं।
पांडित्य दिखाने के लिये शब्दाडंबर तो बहुत
उनमें कुछ सार नहीं। पिछले दोनो में कुछ सार

यह कष्ट-कल्पित है। यदि किसी को अँगरेज़ी-साहित्य
की अभिरुचि है, तो उसके लिये अलग क्लास होनी
सबको इसके सीखने के हेतु विवश करना उचित
त अँगरेज़ी-भाषा सीखनेवालों के लिये शब्दों की
धातु और अर्थ-व्यवहारादि आरंभ में व्याकरण से
की ज़रूरत नहीं। कानों से सुनकर और आँखों से
सीखना चाहिए। यहाँ के विश्वविद्यालयों में भाषा
का ढंग बिलकुल बेहूदा है। यहाँ छ वर्षों में भाषा का
ा है और वह भी पूरा नहीं। पर उक्त ढंग से ६ महीने
म बन जाता है। एक जर्मन ने फ़्रांसीसी भाषा सीखने
उस भाषा का व्याकरण घोंट डाला, कोश रट डाला,
जाकर लेक्चर सुन डाला, पर फल कुछ न हुआ।
क साल की मेहनत यों ही गई। इसके बाद वह सब
छोड़कर फ़्रांसीसी लड़कों की संगत करने लगा। बस,
में ही वह उस भाषा में बातचीत करने लग गया।
इसलिए किसी स्कूल में पढ़ने नहीं जाते, पर अँगरेज़ों
रहकर घर में अँगरेज़ी बोल लेते हैं। किसी देश की
जानने के लिये पहले कानों और आँखों का सहारा
लीजे पुस्तकें पढ़िए। बस, जब वह भाषा उस देश
वालों की तरह बोलने और लिखने लगोगे। ऐसे ही
आप उसके पण्डित हो जायँगे। देखिए, इस ढंग से
कितना समय बचता है।

अगर अँगरेज़ी-भाषा का लेहजा सीखना हो, तो अँगरेज़ों की सगत कीजिए, और उनकी बातचीत ध्यान से सुनिए। बोलने के समय उनके मुख की ओर ध्यान से देखिए, और उनकी जीभ और ओठों की गति का भली भाँति अवलोकन कीजिए। उच्चारण सीखने का यह बहुत सीधा उपाय है। पर प्रश्न यह है कि हम इतना श्रम करें क्यों? इससे फ़ायदा? कुछ भी नहीं। भारतवासियों को अँगरेज़ी के लिये इतना श्रम न करना चाहिए। उनके लिये यह अस्वाभाविक काम है। शीत-प्रधान देश-वालों की बनावट उष्ण-प्रधान देशवालों से नहीं मिलती; सर्दी उत्तेजित करती, और गर्मी दबाती है। सर्दी से फुर्ती आती है पर गर्मी से सुस्ती। सर्दी नसें जकड़ देती है, और गर्मी उन्हें ढीली। जब नसें तनी रहती हैं, तो आवाज़ ऊँची, तीखी और कर्कश निकलती है, और ढीली रहने से धीमी, नीची और भारी। पट्टे की तरह नसें भी गर्म मुल्कों में ढीली पड़ जाती हैं। गर्म देशवालों के चमड़े और ओंठ सर्द मुल्कवालों के ओठों से मोटे होते हैं—सीना तथा फेफड़ा छोटा होता है। जिनकी नसें मज़बूत और तनी होती हैं, उनकी आवाज़ स्वभाव से कर्कश और बेसुरी होती है, पर जिनकी नसें ढीली हैं, उनकी आवाज़ मीठी, सुरीली और धीमी होती है। हमारी बनावट तथा शिक्षा-प्रणाली ऐसी है कि हम सब कुछ उच्चारण कर सकते हैं। अँगरेज़ी-भाषा अनगढ़, रूखी, कड़ी और नीरस है, पर हमारी भाषा कोमल, मधुर, सद[illegible] है। यह

पक्षपात नहीं, सत्य है। हम अँगरेजों की नकल कर सकते हैं, पर इसकी जरूरत ही क्या है ? क्या फ्रांसीसी, इटालियन और जर्मन कभी नकल करते हैं ? नहीं। फिर हमीं क्यों करें ? जो हजम हो सके, वही खाना अच्छा है। हम न भाषा ही हजम कर सकते हैं, और न लहजा ही। इतना सरतोड़ परिश्रम करने पर भी अँगरेजों की तरह की अंगरेजी लिखने-वाले भारतवर्ष में कितने हैं ? मुश्किल से एक दर्जन। जापानियों की तरफ देखिए। वे फ्रांस, जर्मनी और इँगलैंड जाकर भाषा तो सीखते हैं, पर अध्ययन नहीं करते; भाषा सीखकर वहाँ की शिल्प-कला का शिक्षा लाभ करते हैं। फिर अपने देश में आकर देशवासियों को अपनी भाषा में शिल्प-कला सिखलाते हैं। इसी से जापानी आसानी से सब बातें सीख लेते हैं। अगर अँगरेजी या और किसी विदेशी भाषा में वह शिक्षा दी जाती, तो जापानी कभी नहीं उन्नति कर सकते, उलटे उन्हें औंधे-मुँह गिरना पड़ता। प्रायः एक शताब्दी से हम इँगलैंड से शिक्षा पा रहे हैं, विज्ञान और शिल्प की शिक्षा भी पचास साल से मिलती है, पर हम जहाँ-के-तहाँ हैं। जापान ने अल्प समय में जितना सीख लिया है, उसका सौवाँ हिस्सा भी हम इतने दिनों में क्यों नहीं सीख सके ? इसका सबब यह है कि हम सुमार्ग से नहीं चलते। हमारा समय भाषा के अध्ययन में ही बीत जाता है, शिल्प और विज्ञान सीखने की नौबत ही नहीं आती।

सच्ची-सी बात यह है कि जापान के हाथ में जो सब सुविधें और मौके हैं, वे हमारे हाथ में नहीं हैं। अगर होते, तो क्या हम कुछ न कर दिखाते? जरूर कर दिखाते। जापान की ओर देखते हैं, तो लज्जा से गर्दन नीची हो जाती है। हम जहाँ-के-तहाँ खड़े हैं, और वह सरपट भाग रहा है। हम दौड़ें कैसे? हमारे तो पैरों में जंजीर और सिर पर बोझ है। इंगलैंड पाश्चात्य विज्ञान सिखाने की चेष्टा कर रहा है, पर हम उससे काम उठाने में असमर्थ हैं।

मैंने जो कुछ कहा, उसका यह मतलब नहीं कि आज ही सब लड़के स्कूल-कॉलेजों से नाम कटवा लें, और हम अँगरेजी का बहिष्कार कर दें। मेरा कहना यही है कि लोग आँखें मूँद कर अँगरेजी न पढ़ें, और न उसके पीछे पागल हो जायँ। बोलने-चालने और लिखने-पढ़ने योग्य अँगरेजी अवश्य सीखें, क्योंकि यह राजभाषा है। इसके जाने विना हम कोई काम आजकल नहीं कर सकते। हाँ, अध्ययन की आवश्यकता नहीं। जो भाषाविद् होना चाहें, वह कर सकते हैं। सबके लिये इसकी पाबंदी न होनी चाहिए। मेरी तुच्छ सम्मति है कि फ्रांस, जर्मनी और इँगलैंड की इतिहास, जीवन-चरित, विज्ञान और शिल्प-कला-संबंधी अच्छी-अच्छी पुस्तकों का हिंदी में उल्था हो, और वे पढ़ाई जायँ। विश्वविद्यालयों में अँगरेजी गौण भाषा हो, और वह इच्छा पर रहे। उसके पढ़ने के लिये जबरदस्ती न की जाय।

जिस प्रांत का वासी है, उसकी आरंभिक शिक्षा तो उसी

प्रांत की भाषा में हो, पर साधारण शिक्षा हिंदी में, क्योंकि यह राष्ट्रभाषा सिद्ध हो चुकी है।

हम हिंदी-भाषा-भाषी हिंदुओं की आशा और भरोसा माननीय मालवीयजी के हिंदू-विश्वविद्यालय पर था। उसके हिंदी हीन हो जाने से हिंदू हताश हो हिम्मत हार बैठे हैं*। वहाँ अँगरेजी का अटल आधिपत्य अवलोकन कर सब लालसाओं पर पाला पड़ गया है। अब सम्मेलन को सचेष्ट हो सदुद्योग करना चाहिए, जिससे हिंदी में हमारी शिक्षा हो। जब तक मातृभाषा में हमारी शिक्षा न होगी, हम कदापि उन्नति न कर सकेंगे। उन्नति का मूल-मंत्र मातृभाषा में सब विषयों की शिक्षा है।

हिंदी के विषय में मेरा क्या सिद्धांत है, यह सुनाकर इसे समाप्त करता हूँ।

> बानी हिंदी भाषन की महरानी,
> चंद, सूर, तुलसी-से जामें कवी भए लासानी।
> दीन मलीन कहत जो याकों, है सो अति अज्ञानी;
> या सम काव्य-छंद नहिं देख्यो, है दुनिया-भर छानी।
> का गिनती उरदू-बँगला की औ अँगरेजिहु पानी;
> आजहुँ याकों सब जग बोलत गोरे तुरुक जपानी।
> है भारत की भाषा निहचय हिंदी हिंदुस्थानी,
> 'जगन्नाथ' हिंदी-भाषा को है सेवक अभिमानी।

---

* अब वहाँ एम्० ए० तक हिंदी कर दी गई है। संपादक

# सिंहावलोकन

## अर्थात्

गत आठ वर्षों के हिंदी-साहित्य-संसार की समालोचना*

## (पूर्वार्द्ध)

इस सिंहावलोकन का काम किसी महावीरसिंह को दिया जाता, तो अधिक उपयुक्त होता। पर न-जाने क्यों, यह काम मुझे दिया गया है। सिंहावलोकन तो क्या, मैं बंदरघुड़की भी नहीं जानता। खैर, जब पंचों की यही राय हुई, तो मैं सिंह का रूप धरकर हिंदी-साहित्य-संसार का गत आठ वर्षों का अवलोकन करता हूँ। पर देखना, सिंह के तर्जन-गर्जन और लाल-लाल नेत्र देख गालियों की गोलियाँ न चला बैठना।

### बाहरी अवस्था

गत आठ वर्षों के हिंदी-साहित्य-संसार की ओर देखता हूँ, तो पहले उसकी बाहरी अवस्था पर दृष्टि पड़ती है। यह अच्छी है; हिंदी का प्रचार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। प्रत्येक प्रांत के लोग इसे राष्ट्रभाषा स्वीकार करते जाते हैं।

### बंगाल

पहले मैं बंगाल की ही बात बताता हूँ। इसके पूर्व बंगाली

---

* इंदौर के अष्टम हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में पढ़ा गया। (संवत् १९७५)

हिंदी को हीन समझते थे, पर अब यह बात धीरे-धीरे कम होती जाती है। 'वंदे मातरम्' बनानेवाले बंकिमचंद्र, पुरातत्त्व-वेत्ता राजेंद्रलाल और इतिहास-लेखक रमेशचंद्र की बात मैं नहीं कहता। वे लोग तो इसके तरफ़दार थे ही। मैं आज-कल के बंगालियों की बाबत कह रहा हूँ। अब वे भी हिंदी की चर्चा करने लग गए हैं। स्वर्गवासी बाबू रसिकलाल राय 'भारतवर्ष'-नामक बँगला मासिक पत्र में प्रायः हिंदी के विषय में कुछ-न-कुछ लिखा करते थे। उन्होंने तृतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति की वक्तृता का उल्था उसमें छापा था। पंडित सत्यचरण शास्त्री ने अभी हाल में कविवर भूषण पर बंगीय साहित्य-सभा में एक प्रबंध का पाठ किया था, जिसे सुनकर माननीय श्रीयुत भूपेंद्रनाथ बसु ने बंगालियों को हिंदी सीखने की सलाह दी थी। अभी कांग्रेस के समय कलकत्ते में जो राष्ट्रभाषा-सम्मेलन हुआ था, उसमें सब प्रांतों के लोगों का अच्छा जमाव था। सबने एक स्वर से भारत के भाल की बिंदी इस हिंदी को ही राष्ट्रभाषा स्वीकार किया। बंगाल के श्रीयुत राय यतींद्रनाथ चौधरी एम्० ए०, बी० एल्० इसके मंत्री हैं, और हिंदी को ही राष्ट्रभाषा के उपयुक्त मानते हैं। 'नायक'-संपादक पंडित पाँचकौड़ी बंद्योपाध्याय, प्राच्यविद्यामहार्णव श्रीयुत नगेंद्रनाथ बसु, कविराज ज्योतिर्मय सेन और रायबहादुर यदुनाथ मजुमदार हिंदी-हितैषी हैं। पंडितों में महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण हिंदी के अनुरागी ही नहीं,

उसके ज्ञाता भी हैं। यह सूरसागर पढ़ते और सदा हिंदी के पक्ष में ही सम्मति देते हैं।

## मद्रास

मद्रास ने भी हिंदी को अपनाया है। स्वर्गवासी वेंकट कृष्ण स्वामी अय्यर हिंदी को राष्ट्रभाषा मान चुके हैं। उक्त राष्ट्रभाषा सम्मेलन में श्रीयुत एन्० सी० श्रीनिवासाचार्य, एन्० कृष्णमाचार्य और हिंदुस्थान की 'बुलबुल' श्रीमती सरोजिनी नायडू ने राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर हिंदी को ही बिठाया था।

## बंबई

बंबई-प्रांत तो हिंदी को बहुत दिनों से राष्ट्रभाषा मान चुका है। बड़ौदे की हिंदी-परिषद् के सभापति बंबई-निवासी सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉक्टर सर भंडारकर ने अपने भाषण में कहा था—

"The honour of being made the Common Language for inter-communication between Various Provinces must be given to Hindi. There does not seem to be much difficulty to make Hindi accepted by all throughout India"

अर्थात् भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों की आपस में बातचीत करने के लिये साधारण भाषा होने का गौरव हिंदी को अवश्य ही मिलना चाहिए। भारतवर्ष में सर्वत्र हिंदी का प्रचार करने में मुझे अधिक कठिनाई दिखलाई नहीं देती।

ग्वालियर के भूतपूर्व न्यायाधीश ( चीफ जस्टिस ) राव-बहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ने कहा है—

"Hindi is from every point of View by far the most suitable language to be selected as the lingua franca of India."

अर्थात् हिंदी ही सब प्रकार से भारत की राष्ट्रभाषा होने के योग्य है। इनके अतिरिक्त भारत के भाल के तिलक लोकमान्य श्रीपं० बालगंगाधर तिलक महाराज ने श्रीमुख से हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद प्रदान किया है। कलकत्ते के राष्ट्रभाषा-सम्मेलन के सभापति होकर आपने जो सारगर्भ वक्तृता दी थी, वह मनन करने योग्य है। आप केवल व्याख्यान देकर ही नहीं रह गए, बल्कि आपने अपने 'मराठा' और 'केसरी' पत्रों में हिंदी को स्थान भी दिया है। उनका एक-एक कालम हिंदी में रहता है। उनके 'मराठा' पत्र ने तो श्रीमती एनी-बिसेंट से 'न्यू इंडिया' में हिंदी को स्थान देने के लिये अनुरोध भी किया है।

## गुजरात

गुजरात-प्रांत ने हिंदी के लिये जो किया है, वह किसी ने नहीं किया है। मैं स्वामी दयानंद सरस्वतीजी की बात नहीं कहता, जिन्होंने 'सत्यार्थ-प्रकाश' हिंदी में रचकर उसके प्रचार का द्वार खोल दिया है, क्योंकि यह ८ वर्ष पहले की बात है। मैं

श्रीमान् कर्मवीर मोहनदास कर्मचंद गांधीजी का शुभ नाम ले रहा हूँ, जिन्होंने आज हमारे सम्मेलन की शोभा बढ़ा सभापति का आसन ग्रहण किया है। श्रीमान् गांधीजी की कृपा से ही कांग्रेस में हिंदी की तूती बोलने लगी है। लोगों के लाख कहने पर भी श्रीमान् अँगरेजी में न बोलकर हिंदी में ही बोले थे। श्रीमान् ने ही लोकमान्य तिलक महाराज का ध्यान हिंदी की ओर आकर्षित किया था। फल यह हुआ कि लोकमान्य ने भी स्वराज्य का व्याख्यान हिंदी में दिया, और 'मराठा' तथा 'केसरी' के कालमों में हिंदी का स्थान मिला। गुजरात-प्रांतीय साहित्य-परिषद् ने श्रीमान् गांधीजी की अध्यक्षता में हिंदी को राष्ट्रभाषा माना, और अब उसका प्रचार बढ़ता जाता है। सब कोई कर्मवीर गांधीजी की तरह हिंदी में बोलने लग जायँ, तो सहज ही हिंदी का प्रचार सर्वव्यापी हो जाय।

## सिंध और पंजाब

आर्यसमाज और सनातनधर्म-सभा के प्रभाव से सिंध और पंजाब में भी हिंदी का प्रचार होता जाता है, पर अभी जैसा चाहिए, वैसा नहीं है। इस समय जितना है, वही बहुत है।

## युक्तप्रांत और बिहार

युक्तप्रांत और बिहार हिंदी-भाषी प्रदेश हैं, पर दुःख है, राह भूलकर भटक गए। अब उन्हें अपनी भूल मालूम हो गई है। वे राह पर आ रहे हैं। भविष्य अच्छा दिखाई दे रहा है।

## अदालत

अदालतों में नागरी का तो कुछ-कुछ प्रवेश हुआ है, पर हिंदी-भाषा का बिल्कुल नहीं। इसके लिये विशेष उद्योग होना चाहिए।

## रजवाड़े

रजवाड़ों में भी हिंदी की घुस-पैठ होती जाती है। बड़ौदा, ग्वालियर, अलवर, बीकानेर और रीवाँ आदि के नरेशों ने राष्ट्र-भाषा हिंदी का आदर कर दूरदर्शिता का काम किया है। श्रीमान् इंदौर-नरेश के हिंदी-प्रेम के कारण ही आज हम लोग यहाँ एकत्र हुए, और यह समारोह देख रहे हैं। श्रीमान् हिंदी के लिये प्रतिवर्ष जो उदारता दिखाते हैं, वह अन्यान्य नृपति-गण के लिये अनुकरणीय है।

## मुसलमान

कलकत्ता-हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज मिस्टर हसनइमाम-जैसे मुसलमान भी हिंदी के हिमायती हैं। मध्यप्रदेश के मौलवी सैयद अमीरअली 'मीर' हिंदी के प्रेमी ही नहीं, लेखक और कवि भी हैं। बेतिया के मुहम्मद पीर मूनिस, और मुजफ़्फ़रपुर के मियाँ लतीफ़हुसेन भी हिंदी लिखते-पढ़ते हैं।

## सिविलियन

बिहार-प्रांत के पटने के कमिश्नर मि० सी० ई० ए० डब्ल्यु-ओल्डम हिंदी के बड़े हितैषी हैं। आरा-नागरी-प्रचारिणी-सभा

के उद्योग और आपकी कृपा से अदालत के कागज़-पत्र कैथी के बदले अब नागरी में छपने लगे हैं।

## विरोधी

हिंदी के हिमायती ही हैं, विरोधी नहीं, ऐसा नहीं है। विरोधी भी हैं, और वे हिंदुस्थान के निवासी तथा हिंदू हैं, पर नगण्य हैं। इंदौर का मराठी 'मल्हारिमार्तंड' प्रचंडता के साथ हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का विरोध कर रहा है। उसके कथन का सार यही है कि हिंदी-भाषा दीन, हीन एवं नवीन है, और उसका साहित्य भी समीचीन नहीं। वह कई 'बाबुओं' से हिंदी को राष्ट्रभाषा के अनुपयुक्त सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा है। आनंद की बात यह है कि दैनिक 'भारतमित्र' युक्ति-युक्त मुँह-तोड़ उत्तर देकर इसके बाज़ू तोड़ता जाता है। इसलिये इस विषय में कुछ विशेष कहने की मुझे आवश्यकता नहीं। पर इतना अवश्य कहूँगा कि हिंदी को कोई राष्ट्रभाषा नहीं बनाता है, वह अपने गुणों से स्वयं बन गई और बनती चली जा रही है। उसे कोई राष्ट्रभाषा चाहे न माने, पर वह राष्ट्रभाषा का काम कर रही है। मैं हिंदी-भाषा-भाषी हूँ, इसलिये यह कह रहा हूँ, ऐसा समझिए। जिनका हिंदी से कोई संबंध नहीं, वे भी यही कहते हैं। सात समुद्र पार रहनेवाली परम विदुषी श्रीमती ए विसेंट अपने 'नेशनबिल्डिंग'-नामक पुस्तक में कहती हैं—

"Among the Various Vernaculars that a spoken in the different parts of India, there

one that stands out strongly from the rest, as that which is most widely known. It is Hindi. A man who knows Hindi can travel over India and find every where Hindi speaking people. In the north it is the vernacular of a large part of the population and a large additional part, who do not speak Hindi, speak language so closely allied to it that Hindi is acquired without difficulty."

अर्थात् भारत की जितनी प्रांतीय भाषाएँ हैं, उनमें हिंदी के ही समझनेवाले अधिक हैं। हिंदी जाननेवाला भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक चला जाय, उसे सब जगह हिंदी बोलनेवाले मिलेंगे। उत्तरीय भारत में हिंदी बोलनेवाले अधिक हैं। जो हिंदी नहीं बोलते, वे हिंदी से मिलती-जुलती भाषा बोलते हैं, जिससे हिंदी उन्हें सीखने में कोई कठिनाई नहीं होती।

बात भी यही है। देशी ही नहीं, विदेशी भी सहज ही हिंदी सीखकर बातचीत करने लग जाते हैं। हलक से बोलनेवाले अरब, और चों-चों करनेवाले चीनी यहाँ आकर किस भाषा में मन के भाव प्रकट करते हैं! जो अंगरेजी नहीं जानते, वे हिंदी से ही काम चलाते हैं। योरप-निवासी हिंदुस्थान आकर बावर्ची खानसामों से किस भाषा में बोलते हैं! हिंदी

में। सेतुबंध रामेश्वर, द्वारका, बदरिकाश्रम और जगन्नाथपुरी के पंडे अन्य प्रांतों के यात्रियों से हिंदी में ही बातचीत करते हैं। फिर हिंदी राष्ट्रभाषा नहीं, तो और कौन-सी राष्ट्रभाषा है ! यह मेरी ही नहीं, भारत के सुपुत्र स्वर्गवासी रमेशचंद्र दत्त की भी यही सम्मति है। बड़ौदे की 'हिंदी-परिषद्' में उन्होंने कहा था—"If there is a language which will be accepted in a larger part of India, it is Hindi."

अर्थात् भारत के अधिकांश भाग में यदि कोई भाषा स्वीकृत हो सकेगी, तो वह हिंदा ही है।

बाकी रही दीन-हीन साहित्य की बात। उसके लिए मैं अपनी ओर से कुछ न कह पुरातत्त्व-वेत्ता परलोकवासी डॉक्टर राजेंद्रलाल मित्र LL. D. सी० आई० ई० की उक्ति उद्धृत कर देता हूँ। मित्र महोदय 'इण्डो एरियंस' ( Indo Aryans ) नाम की पुस्तक में लिखते हैं—

"The Hindi is by far the most important of all the vernacular dialects of India. It is the language of the most Civilised portion of the Hindu race. Its history is traceable for a thousand years, and its literary treasures are richer and more extensive than of any other modern Indian dialect. Telegu excepted."

तात्पर्य यह है कि भारत की भाषाओं में हिंदी बड़े ही काम की भाषा है। यह हिंदुओं में सबसे अधिक सभ्य लोगों की भाषा है। इसके इतिहास का पता हज़ार वर्ष तक लगता है। तेलगू-भाषा को छोड़ भारत की और सभी आधुनिक भाषाओं से इसका साहित्य-भांडार अधिक वैभवशाली और विस्तृत है। हिंदी की प्राचीनता के विषय में बंगाल के सिविलियन मिस्टर जॉन बीम्स (Mr. John Beames) अपनी पुस्तक Comparative Grammar of the modern Aryan Languages of India की भूमिका में लिखते हैं—"Hindi represents the oldest and most widely diffused form of Aryan speech in India. In respect of Tadbhavas Hindi stands pre-eminent."

अर्थात् भारतवर्ष में आर्यों की सबसे प्राचीन और प्रचलित भाषा हिंदी है। इसमें तद्भव शब्द सभी भाषाओं से अधिक हैं।

रेवरेंड केलॉग (Rev. kellogg) अपने हिंदी-व्याकरण की भूमिका में मराठी, गुजराती, बँगला, पंजाबी, सिंधी और उड़िया भाषाओं की चर्चा करते हुए कहते हैं—"of these in order of antiquity Hindi stands first."

अर्थात् प्राचीनता के विचार से इनमें हिंदी ही प्रथम है।

मिस्टर एच्. टी. कोलब्रूक (Mr. H. T. Colebrooke) ने 'एशियाटिक रिसर्चेज़' (Asiatic Researches) के सातवें भाग में लिखा है—"On the subject of the modern

dialects of upper India, I, with pleasure, refer to the works of Mr. Gilchrist, whose labours have now made it easy to acquire the knowledge of an elegant language, which is used in every part of Hindustan and the Deccan; which is the common vehicle of colloquial intercourse among all well—educated natives, and among the illiterate also in many provinces of India and which is almost everywhere intelligible to some among the inhabitants of every village... ....The same tongue, under its more appropriate denomination of Hindi, comprehends many dialects strictly local and provincial."

अभिप्राय यह कि उत्तर-भारत की वर्तमान बोली के बारे में मैं प्रसन्नता के साथ गिल्क्राइस्ट साहब की पुस्तकों का उल्लेख करता हूँ। जिस बोली का व्यवहार भारत के प्रत्येक प्रांत में होता है, उसके सीखने का सहज उपाय उन्होंने परिश्रम से कर दिया है। यह पढ़े-लिखे तथा अपढ़, दोनो की साधारण बोलचाल की भाषा है, और इसे प्रत्येक ग्राम के थोड़े लोग अवश्य समझ लेते हैं। इसका उपयुक्त नाम हिंदी इसमें अनेक प्रकार की स्थानीय और प्रांतीय बोलियाँ हुई हैं।

कविवर लल्लूलालजी से 'प्रेमसागर' नाम की प्रचलित हिंदी की प्रथम पुस्तक बनानेवाले डॉक्टर गिलक्राइस्ट ( Dr. Gilchrist ) कहते हैं—"The language at present best known as the Hindustanee, is also frequently denominated Hindee, Urdu and Rekhta. It is compounded of the Arabic, Persian and Sanskrit or Bhakha which last appears to have been in former ages the current language of Hindustan." याने जो भाषा आज हिंदुस्थानी के नाम से प्रसिद्ध है, वही हिंदी, उर्दू और रेखता भी कहलाती है। इसमें अरबी, फारसी, संस्कृत या भाखा के शब्द मिले हैं। प्राचीन समय में यह 'भाखा' ही हिंदुस्थान की प्रचलित भाषा थी।

हिंदी को पहले लोग 'भाषा' या भाखा ही कहा करते थे। इसका प्रमाण तुलसी-कृत रामायण में है। यथा—

"नाना पुराण निगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति।"

फिर देखिए—

"भाखा भनिति भोरि मति मोरी,
हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।"

आजकल भी संस्कृत के बहुतेरे पंडित हिंदी को 'भाखा' ही कहते हैं।

सन् १९०१ ई० की मनुष्य-गणना के विवरण में लिखा है—

"In themselves, without any extraneous help whatever, the dialects from which it (Hindi) is sprung are, and for five hundred years have been, capable of expressing with crystal clearness any idea which the mind of man can conceive. It has an enormous native vocabulary and a complete apparatus for the expression of abstract terms. Its old literature contains some of the highest flights of poetry and some of the most eloquent expressions of religious devotion which have found their birth in Asia. Treatises on philosophy and on rhetoric are found in it, in which the subject is handled with all the subtlety of the great sanskrit writers and has hardly the use of a sanskrit word."

इसका सार यह है—

जिन (वैदिक) बोलियों से स्वतंत्रता-पूर्वक किसी सहायता के बिना हिंदी-भाषा बनी है, वे ५०० वर्ष से मनुष्य के सब भाव सुस्पष्ट रूप से प्रकाश करने की शक्ति रखती आई हैं। हिंदी का बृहत् शब्द-भांडार स्वतंत्र है। कठिन-से-कठिन या दुरूह-से-दुरूह शास्त्रीय परिभाषाओं के प्रकाश करने की क्षम

भाषा में पूरी सामग्री है। इसके पुराने साहित्य में सर्वोच्च कविता और धर्म-संबंधी ग्रंथ विद्यमान् हैं। दर्शन और अलंकार के ग्रंथ भी इसमें पाए जाते हैं। विचित्रता तो यह है कि इन कठिन विषयों पर ऐसे ग्रंथ लिखे गए हैं, जिनमें केवल हिंदी के ही शब्द व्यवहृत हुए हैं।

भला जिस भाषा में 'पृथ्वीराज रायसा'-सा प्राचीन ऐतिहासिक महाकाव्य, 'सूरसागर'-सा भक्ति-रस-पूर्ण काव्य, तुलसी-कृत रामायण-सा नवरस-पूर्ण महाकाव्य, 'बिहारी-सतसई'-सा शृंगार-रस-प्रधान कमनीय काव्य और शिवराज-भूषण-सा वीर-रस-प्रधान काव्य ग्रंथ है, वह कभी दीन, हीन और नवीन हो सकती है! जिस भाषा में नानक, कबीर, गुरुगोविंद, दादू-दयाल, सुंदरदास आदि महात्माओं की उपदेशमयी वाणी विद्यमान् है, यदि वही दीन-हीन है, तो पीन और समीचीन कौन होगी? वेदांत, वैद्यक, सालोतर आदि के जितने ग्रंथ हिंदी में हैं, उतने और किस भाषा में हैं? संस्कृत-साहित्य का सार निकालकर हिंदी में रख दिया गया है। हाँ, एक बात का अभाव हिंदी में अवश्य है। वह है अँगरेजी का उच्छिष्ट। यदि इसी से हिंदी दरिद्र हो, तो हो सकती है। पर लक्षणों से जान पड़ता है कि अब इसका भी अभाव नहीं रहेगा।

यह बात तो निर्विवाद है कि हिंदी प्राचीन और सर्वश्रेष्ठ भाषा है। पर इधर सौ वर्ष के भीतर और-और प्रांतीय भाषाओं ने जैसी उन्नति की, हिंदी वैसी क्या, कुछ भी न कर सकी;

क्योंकि फ़ारसी ने इसकी राह रोक दी। अन्यान्य भाषाएँ उन्नति के मैदान में स्वच्छंदता-पूर्वक दौड़ती चली गईं, और यह जहाँ-की-तहाँ खड़ी रह गई। इसका भी कारण है।

मिस्टर ब्लॉकमैन (Mr. Blochman) बादशाही दरबार की बातों के बड़े जानकार समझे जाते हैं, और उनकी बातें 'बावन तोले पाव रत्ती' मानी जाती हैं। उन्होंने सन् १८७१ ई० के 'कलकत्ता रिव्यू' (Calcutta Review) में "The Hinbu Rajas under the Moghuls." नामक एक लेख लिखा था। उसमें वह कहते हैं—

"Both Hindus and Mohammadans spoke the same vernacular viz., Hindi or as it was then called Hindwi.

The collection of the revenue and the management of the estates were almost exclusively in the hands of the Hindus, and hence all accounts whether private or public were kept in Hindi.

They (the Dustur-ul-amals) are unanimous in affirming that from the earliest times up to the middle of Akbar's reign, all Government accounts were kept in Hindi. (P. 317).

इससे मालूम होता है कि हिंदू और मुसलमान, दोनो ही हि

या हिंदवी बोलते थे, और सरकारी हिसाब-किताब हिंदी में ही रखते थे। कुतुबुद्दीन से लेकर अकबर के राजत्वकाल के मध्य तक अदालत और माल के कागज़-पत्र हिंदी में ही रहे। पीछे दुर्भाग्य-वश टोडरमल ने माल का नया तरीक़ा चलाकर हिंदुओं को फ़ारसी पढ़ने को लाचार किया। बस, टोडरमल के समय से ही हिंदी की गति रुकने लगी। यदि ऐसा न हुआ होता, तो आज हिंदी किसी से किसी बात में पीछे न रहती। इतने पर भी हिंदी-साहित्य का महत्त्व बना ही हुआ है। जिस बँगला-साहित्य को लोग आजकल बहुत उन्नत और विस्तृत समझकर उसकी दुहाई देते हैं, उसी के प्रवर्तक, सुलेखक और सुकवि बैकुंठवासी राय बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय बहादुर अपने 'बंग-दर्शन'-नामक मासिक पत्र के पाँचवें खंड में बंगालियों को संबोधन कर लिखते हैं—"इंगराजी-भाषा द्वारा जाहा हउक, किंतु हिंदी शिक्षा न करिले कोनों क्रमेइ चलिबे ना। हिंदी भाषाय पुस्तक ओ वक्तृता द्वारा भारतेर अधिकांश स्थानेर मंगल साधन करिबेन। केवल बाँगला ओ इंगराजी चर्चाय हइबेना। भारतेर अधिवासीर संख्यार सहित तुलना करिले बाँगला ओ इंगराजी कय जन लोक बोलिते वा बुझिते पारेन! बांगलार न्याय ये हिंदिर उन्नति हइतेछे ना इहा देशेर दुर्भाग्येर विषय। हिंदी भाषार साहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये याँहारा ऐक्य बंधन संस्थापन करते पारिबेन ताँहाराई प्रकृत भारतबंधु नामे अभिहित हइबार योग्य। सकले चेष्टा करुन, यत्न करुन, यत दिन परेई हउक मनोरथ पूर्ण हइबे।"

अर्थात्, अँगरेजी-भाषा से चाहे जो हो, पर हिंदी के
विना किसी तरह काम न चलेगा। हिंदी-भाषा में पुस्त
लिखकर और वक्तृताएँ देकर भारत के अधिकांश स्थान
कल्याण कीजिए। केवल बँगला और अँगरेजी से काम
होगा। भारत के अधिवासियों में से कितने मनुष्य बँगला और
अँगरेजी समझ या बोल सकते हैं! बँगला की तरह हिंदी की
उन्नति नहीं हो रही है, यह देश का दुर्भाग्य है। हिंदी-भाषा की
सहायता से भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों को एकता के बंधन में
जो बाँध सकेंगे, वे ही सच्चे भारत-बंधु कहे जाने योग्य हैं। इस
कोई चेष्टा कीजिए, यत्न कीजिए; चाहे जब हो, मनोरथ पूर्ण होगा।

बंबई से निकलनेवाले 'राष्ट्रमत' का भी यही मत था। उसने
ता० २०-८-१९०९ के अंक में लिखा है—"Hindi is not to
make encroachment on the vernacular of the
province but is to be learnt as a national
necessity."

अर्थात्, हिंदी किसी प्रांत की भाषा का स्थान छीनने के
लिये नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय आवश्यकता के कारण उसे
सीखना चाहिए।

इन सब की राय तो यह है, पर 'मल्हारिमार्तंड' के संपादक
महाशय दूसरा ही राग अलापते हैं। वह एलएंग्लो भाषा से
हिंदी की तुलना कर इसे राष्ट्रभाषा के अनुपयुक्त बतलाते हैं।
... उनका कुछ दोष नहीं, क्योंकि—

"जाके मति भ्रम होइ खगेसा,
सो कह पच्छिम उगहि दिनेसा।"

'मल्हारिमार्तंड' के विद्वान् संपादक समझते हैं, और लोगों को समझाते भी हैं कि हिंदी के राष्ट्रभाषा हो जाने से मराठी, गुजराती, तथा बँगला आदि भाषाओं की हानि होगी, क्योंकि उनका स्थान हिंदी ले लेगी। पर यह उनकी भूल है। वह सचमुच भूलते हैं या जान बूझकर भूलते हैं, यह अभी नहीं कहा जा सकता, पर भूलते जरूर हैं। अगर न भूलते होते, तो ऐसी बात मुँह से न निकालते। हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का उद्देश्य यह नहीं कि वह प्रांतीय भाषाओं का स्थान ले ले और उन्हें हानि पहुँचावे। इसका उद्देश्य यही है कि सब कोई अपनी-अपनी मातृभाषा सीखें, और उसका उन्नति करें, पर हिंदी भी सीखें, जिससे मद्रासी और पंजाबी या मराठे और बंगाली जब मिलें, तो विदेशी भाषा में न बोलकर देशी भाषा में बोलें। अपने देश में अपने भाइयों से अपनी ही भाषा में बोलने से अपनापन अधिक प्रकट होता है। हिंदी प्रांतीय भाषाओं का स्थान न ले अँगरेजी का लेना चाहती है, अर्थात् जो काम अँगरेज़ी से निकाला जाता है, उसे हिंदी से ही निकालना चाहिए। जब अँगरेजी से प्रांतीय भाषाओं की हानि नहीं हुई, तो उसी स्थान पर हिंदी के पहुँच जाने से कैसे होगी? हिंदी तो उन्हें प्रांतीय स्वराज देती है। वह अपने-अपने प्रांत में फूलें-फलें और दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति

करें। हिंदी उसमें बाधा नहीं डालती। फिर हिंदी के प्रचार होने से प्रांतीय भाषाओं की कैसी हानि होगी, यह "भारत-मार्तंड" के प्रचंड संपादक ही जानें। मालूम होता है, ऐसे ही लोगों को राह पर लाने के लिये प्रसिद्ध विद्वान् और देशभक्त श्रीयुत अरविंद घोष ने अपने 'धर्म'-नामक साप्ताहिक पत्र में लिखा था—"भाषारभेदे और बाधा हइवेना, सकले स्व स्व मातृभाषा रक्षा करियाओ साधारण भाषारूपे हिंदि भाषा के ग्रहण करिया सेई अंतराय विनष्ट करिव।" अर्थात् भाषाभेद के कारण और अड़चल न होगी। हम लोग अपनी-अपनी मातृभाषा की रक्षा करते हुए साधारण भाषा की भाँति हिंदी-भाषा ग्रहण कर यह भेद-भाव नष्ट कर डालेंगे।

मैं समझता हूँ, इस युक्ति से संपादक महाशय का भारी भ्रम भग जायगा।

संपादक महाशय को भय है कि हिंदी के लिये आंदोलन करने से मुसलमान विरोध करेंगे। फिर मेल के बदले हिंदू-मुसल्मानों में विगाड़ हो जायगा। इसलिये हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का उद्योग न करना चाहिए। यह बात बिलकुल फ़ाल्तू है, क्योंकि हम उर्दू का विरोध नहीं करते, और न उर्दू को कोई स्वतंत्र भाषा ही मानते हैं। यह तो हिंदी का रूपांतर-मात्र है। उर्दू में से हिंदी की क्रियाएँ और सर्वनाम निकाल लिए जायँ, तो वहाँ क्या रह जायगा। उर्दू हिंदी के बिना जी नहीं सकती, और न हिंदी उर्दू को छोड़ सकती है।

हिंदी-उर्दू के बारे में मि० बीम्स ( Mr. Beames ) क्या कहते हैं, वह भी सुन लीजिए—

"The grammar of Urdu is unmistakably the same as that of Hindi, and it must follow therefore that the Urdu is a Hindi and an Aryan dialect."

यानी, उर्दू-हिंदी का व्याकरण एक ही है। इससे उर्दू हिंदी है, और आर्य-भाषा है।

उर्दू-फ़ारसी के आलिम, 'भारतमित्र' के भूतपूर्व संपादक बाबू बालमुकुंद गुप्त 'हिंदी-भाषा' नाम की पुस्तिका में लिखते हैं—

"वर्तमान् हिंदी-भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है। वहीं व्रजभाषा से वह उत्पन्न हुई, और वहीं उसका नाम हिंदी रक्खा गया। प्रारंभ में उसका नाम रेख़त पड़ा था। बहुत दिनों तक यही नाम रहा। पीछे हिंदी कहलाई। कुछ और पीछे इसका नाम उर्दू हुआ; अब फ़ारसी-वेष में अपना उर्दू नाम ज्यों-का-त्यों बनाए रखकर देवनागरी-वस्त्रों में हिंदी-भाषा कहलाती है। इस समय हिंदी के दो रूप हैं—एक उर्दू, दूसरा हिंदी। दोनो में केवल शब्दों ही का भेद नहीं, लिपि-भेद बड़ा भारी पड़ा हुआ है। यदि यह भेद न होता, तो दोनो रूप मिलकर एक हो जाते। यदि आदि से फ़ारसी-लिपि के स्थान में देवनागरी रहती, तो यह भेद ही न होता। अब भी लिपि एक होने से भेद मिट सकता है।"

हमारे मुसलमान भाई इनकी बात पर चाहे ध्यान न दें, शमसुलउलेमा मौलवी सैयद हुसेन बिलग्रामी की बात जरूर ध्यान देंगे, क्योंकि यह उनके जाति-भाई हैं। जनाब बिलग्रामी साहब 'La Civilizatione Des Arabes' नाम पुस्तक के अनुवाद की उपक्रमणिका में लिखते हैं—

"It is a well-known fact that the Urdu belongs to the family of language known as the Aryan. + + +

Thus the Hindi ground-work of the Urdu language has come from one or more of these Prakrits, only a few of the words having been taken direct from sanskrit. + + + + My chief object in entering on this discussion is to prove that while it is our duty to prevent any large importations of foreign words into the Urdu language, it is also our duty to devise means for lightening the labour and difficulty of reading the Urdu character."

अर्थात् यह बात सबको भली भाँति मालूम है कि उर्दू आर्य ... से बनी है। × × × इस प्रकार उर्दू की जड़ में ... का जितना अंश है, वह इन्हीं प्राकृत भाषाओं में ... एक या अनेक से निकली है। हाँ, केवल कुछ शब्द सीधे

संस्कृत से भी लिए गए हैं। × × × इस विषय के विचार में प्रवृत्त होने का मेरा मुख्य उद्देश्य यही सिद्ध करना है कि उर्दू-ज़बान में विदेशी शब्दों को अधिकता के साथ मिलने न देना हमारा जैसे कर्तव्य है, वैसे ही उर्दू-हरूफ़ पढ़ने में जो परिश्रम और कठिनाई पड़ती है, उसके घटाने के लिये उपाय निकालना भी हमारा कर्तव्य है।

कलकत्ते की हिंदी-साहित्य-परिषद् के वार्षिकोत्सव पर कलकत्ता-हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज जनाब सैयद हसनइमाम साहब ने मीर-मजलिस की हैसियत से जो वक्तृता दी थी, वह भी सुन लीजिए। आप फ़रमाते हैं—"कुछ लोगों ने हिंदी-उर्दू का झगड़ा खड़ा कर रक्खा है, पर यह बेफ़ायदा है। मेरी राय से हिंदी हिंदुओं ही की नहीं, बल्कि सारे हिंदुस्थान की ज़बान है। अरबवाले यहाँ के मुसल्मानों को हिंदी ही कहते हैं। फिर हिंदी की तरक़्क़ी के लिये कुछ किया जाय, तो मुसल्मानों की नाराज़गी की कोई वजह नहीं देखता। और ज़बानें एक-एक सूबे की हैं, पर हिंदी हिंदुस्थान की ज़बान है। उर्दू भी यहीं बनी है। मुसल्मान उसे अरब से नहीं लाए। इसलिये मुसल्मानों को हिंदी से नफ़रत न करनी चाहिए, बल्कि हिंदुओं से मिलकर उसकी तरक़्क़ी करनी चाहिए।"

मैं समझता हूँ, 'मज़ारिमार्तंड' के संपादक के दिल में मुसल्मानों के हिंदी-विरोध का डर अब घर न करेगा। और, मुसल्मान भाई भी उर्दू-हरूफ़ के बदले नागरी-अक्षरों से काम

लेने लग जायँ, तो लिखने-पढ़ने में सुबीता हो, तथा हिंदी-उर्दू का बखेड़ा भी मिट जाय। सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि हिंदी-उर्दू के विरोधियों को वैर-विरोध बढ़ाने का फिर बहाना ही न मिलेगा।

अच्छा, अब फिर अवलोकन आरंभ होता है।

## पत्र-पत्रिकाएँ

इधर आठ वर्षों में मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र-पत्रिकाओं की खूब ही उन्नति हुई। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांप्रदायिक, जातीय, राष्ट्रीय तथा शिक्षा, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और शिल्प-संबंधी पत्र निकलते हैं।

पुरुषों के, स्त्रियों के तथा बालकों और बालिकाओं के अलग-अलग पत्र हैं, दुःख है, बुड्ढों के लिये अभी कुछ नहीं निकला। गत आठ वर्षों के भीतर ही हिंदी के कई दैनिक पत्र निकले, जिनमें चार तो सुचारु रूप से चल रहे हैं। बाक़ी काल-कवलित हो गए। इन चार दैनिकों में तीन तो हमारे कलकत्ते से ही निकलते हैं, और एक बंबई से। कलकत्ते से एक पद्यमय पत्र भी प्रकाशित होने लगा है, जो साप्ताहिक की श्रेणी में सुशोभित है।

यहाँ की बात जाने दीजिए, दक्षिण आफ़्रिका से भी दो हिंदी-पत्र निकलते हैं—एक का नाम 'धर्मवीर' और दूसरे का शायद 'हिंदुस्थानी' है।

## पुस्तक

विविध विषयों की पुस्तकें भी धड़ाधड़ निकलती जाती हैं। निकलती ही नहीं, उनका प्रचार भी बढ़ता जाता है। पहले पुस्तकों की छपाई और कागज रद्दी होते थे, पर अब तो उनकी छपाई, सफ़ाई, बँधाई, कटाई, मँजाई और कागज की चिकनाई की बड़ाई किए बिना नहीं रहा जाता। पुस्तक-प्रकाशन में इधर अच्छी उन्नति हुई।

## अलंकृत

पंडित गौरीशंकर भट्ट ने देवनागरी-लिपि को अलंकृत करने की कला का पुनरुद्धार किया है। बेल-बूटेदार, टेढ़े-मेढ़े अनेक प्रकार के अक्षर उन्होंने बनाए हैं, जिनके द्वारा अक्षरों से फूल-पत्ते, और फूल-पत्तों से अक्षर बन जाते हैं। इससे देवनागरी-लिपि का बहुत-कुछ महत्त्व बढ़ गया है।

## नाटक मंडली

कलकत्ता, आरा, काशी, प्रयाग, भरतपुर, खंडवा आदि नगरों में नाटक-मंडलियाँ स्थापित हो गई हैं, जिनमें शुद्ध हिंदी के नाटक उत्तमता से खेले जाते हैं। ये मंडलियाँ पैसे पैदा करने के लिये नहीं, बल्कि हिंदी-साहित्य का प्रचार करने के लिये अभिनय करती हैं।

## सभा-समिति

सभा-समितियों का बाज़ार भी खूब गरम है। जहाँ देखो,

तो कोई विभक्ति का विच्छेद करता है। कोई खड़ी बोली की
करता है, और कोई ब्रजभाषा का नामोनिशान मिटाने
सामान जी-जान से करता है। कोई संस्कृत के शब्दों
सरिता बहाता है, और कोई ठेठ हिंदी का ठाट बनाता
मतलब यह है कि सभी अपनी-अपनी धुन में लगे हैं। व
किसी की नहीं सुनता। नाई की बारात में सभी ठाकुर हैं
ऐसी अवस्था में यहाँ का अवलोकन विशेष रूप से कर
कर्तव्य है। इसलिये अब वही करता हूँ।

## पद्य

साहित्य के दो विभाग हैं—गद्य और पद्य। गद्य की ओ
गमन न कर पहले पद्य की ओर ही प्रस्थान करता हूँ। प
आजकल हिंदी-भाषा के तीन रूपों में लिखे जाते हैं—ब्रजभाषा
खड़ी बोली और उर्दू।

खड़ी बोली और उर्दू में अंतर यही है कि पहली में संस्कृत
और हिंदी के शब्द रहते हैं, और दूसरी में अरबी-फ़ारसी के।
इन दोनो की गढ़न एक ही है, इसलिये इन्हें एक ओर रखता
हूँ। ब्रजभाषा की चाल निराली है। इससे उसे दूसरी ओर
रखता हूँ। खड़ी बोली और ब्रजभाषा में खूब चोंचें चल रही
हैं। खड़ी बोलीवाले कहते हैं ब्रजभाषा मृत भाषा है। इसके
समझनेवाले नहीं हैं, इसमें कविता न होनी चाहिए; गद्य-पद्य
की भाषा दो न होकर एक ही हो, तो अच्छा। इससे लाभ
[illegible] कि हिंदी सीखनेवालों को दो भाषाएँ न सीखकर

एक ही सीखनी पड़ेगी। इसके सिवा व्रजभाषा में केवल शृंगार-रस की कविताएँ हैं, जो अश्लीलता से परिपूर्ण हैं। भाषा भी ऐसी क्लिष्ट और जटिल होती है कि समझ में नहीं आती। शब्दों को जैसा चाहा, तोड़ा-मरोड़ा। कविताओं में भाव-सौंदर्य कुछ नहीं, केवल वही शब्दाडंबर और रसाभास। नख-सिख-वर्णन और नायिका-भेद के सिवा वहाँ न उपदेश है, न आदर्श है, और न सामाजिक सहानुभूति है। देश-दशा-वर्णन, स्वाभाविक वर्णन और राष्ट्र-भाव का तो नाम तक उसमें नहीं है। इन बातों के प्रमाण में नीचे लिखे कवित्त हैं। पहला कवित्त यों है—

"तमतोम-तामस-तमोगुन-सी तोयद-सी,
          नीरस जटानपाटी जरा प्रकटी-सी है;
पजनेस कंदरप दीपक-सिखा-सी बाढ़,
          हाटक-फटिक-ओप कटक पटी-सी है।
कच-कुच दुविध विचित्रायत बरवेष,
          छूटी टटपटी कटि-तट लपटी सी है;
विरह अशुभ पक्ष तीतन प्रदोष पाय,
          पतनी पिनाकी पद पूजि पलटी सी है।"

अब ऋतु-वर्णन सुनिए—

"कूलन में, केलि में, कछारन में, कुंजन में,
          क्यारिन में, कलिन-कलीन किलकंत है;
कहै पदमाकर परागन में, पौनहू में,
          पानन में, पीक में, पलासन पगंत है।

द्वार में, दिसान में, दुनी में, देस-देसन में,

देखो दीप-दीपन में दीपत दिगंत है;

बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में,

बनन में, बागन में बगरो बसंत है।"

इसमें बसन्त-वर्णन तो नहीं, बकार की बहार बेशक है। अब पावस की प्रशंसा में पजनेसजी की प्रतिभा भी प्रत्यक्ष कर लीजिए—

"पजनेस हंसा हौंस होकत हयाक हंसा,

हरा हूर हरनि हिरैग हुरवान में ;

ककुभ करिंद ह्वै हैं बधिर गराजन तें,

तीछन तरा पै कोटि-कोटिन कुवान में।

धावन धधात धिन धीर धमधुंधाधुंध,

धाराधर अधर धराधर धुवान में ;

धूर धुंध धूँधर धुधात धूम धुंधरित,

धुँधर धुधुँधरित धुनि धुरवान में।"

कहिए, क्या समझे?

यह व्रजभाषा के लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों की कविता है। इसका समझना सहज नहीं। पूर्व जन्म के पुण्य उदय हों, तो यह समझ में आ सकती है, अन्यथा नहीं। शब्दाडंबर के सिवा इसमें क्या गुण है, सो भगवान् ही जाने। वीर-रस की कविता है यही, पर उसकी भाषा बनावटी है, और कानों को कोंचनेवाली पद्य पदावली उसमें अधिक है, जिससे हृदय उत्तेजित नहीं होता।

"तुपक्कैं तड़क्कैं धड़क्कैं महा हैं;
फ्लैचिल्लिका-सी भड़क्कैं जहाँ हैं।
खड़क्कैं खरी बैरि छत्ती भड़क्कैं;
सड़क्कैं गए सिंधु मज्जै गड़क्कैं।"

भला इसमें वाह्याडंबर और घटाटोप कृत्रिमता के अतिरिक्त और क्या है? राष्ट्रीयता और व्यापकता के लिहाज से बोलचाल की भाषा में कविता लिखना विशेष उपयोगी है। खुशी की बात है कि इसका प्रचार दिनोंदिन बढ़ रहा है, और इसके विरोधियों की संख्या घट रही है। जो लोग खड़ी बोली को कविता के योग्य नहीं समझते, और पुरानी भाषा में ही—जिसे खड़ी बोलीवाले चाहें, तो पड़ी बोली कह सकते हैं—कविता किए जाने का आग्रह करते हैं, वे सच पूछिए, तो हमारी राष्ट्र-भाषा के जानी दुश्मन हैं।

इतना ही नहीं, खड़ी बोली के खरे आचार्य यह भी कहते हैं कि हमारी भाषा में कुछ दिनों से बेतुकी कविता भी होने लगी है। जब दूसरी भाषाओं में ऐसी कविता हो चुकी है, और होती है, तो कोई कारण नहीं, कि हिंदी में न हो सके। अनुप्रास मिलाने में कभी-कभी भाव को अवश्य हानि पहुँचती है, और कविता के लिये भाव ही मुख्य वस्तु है। तुक-हीन कविता यदि कानों को खटके, तो उसे कानों का ही विकार समझना चाहिए। इत्यादि।

अब ब्रजभाषावाले क्या कहते हैं, वह भी सुन लीजिए—

उनका कहना है कि ब्रजभाषा मातृभाषा नहीं, क्योंकि यह आज भी आगरा-मथुरा आदि जिलों में बोली जाती है, और इसके बोलनेवालों की संख्या लाखों के ऊपर है। मृत भाषा तो वह है, जो कहीं न बोली जाती हो। यह तो बोली जाती है इसलिये जिंदा जबान है।

अगर सच पूछो, तो यह खड़ी बोली कहीं की बोली नहीं, क्योंकि जितनी बोलियाँ या भाषाएँ हैं, उनका संबंध किसी-न-किसी देश, प्रांत या मनुष्य से है, जैसे नेपाल की नेपाली, पंजाब की पंजाबी, गुजरात की गुजराती, मराठों की मराठी, बंगाल की बँगला, अँगरेजों की अँगरेजी, हिंदुस्थान की हिंदुस्थानी और हिंद की हिंदी। खड़ी बोली या उर्दू किसकी और कहाँ की बोली है? न खड़ा या उर्दू कोई देश है, और न कोई मनुष्य। फिर यह आई कहाँ से? उर्दू तो भला छावनी में जाकर पनाह ले सकती है, पर खड़ी बोली कहाँ जाकर खड़ी होगी? ब्रजभाषा वास्तव में जीती-जागती भाषा है, जो ब्रजभूमि और उसके आस-पास बोली जाती है! इसी में कविता होनी चाहिए। इसके समझनेवाले बहुत हैं।

✓ "हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी;
आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।"

जो यह समझ लेगा, वह

"भरित नेह नवनीर नित, बरसत सुरस अथोर;
जयति अपूरब घन-कोऊ, लखि नाचत मनमोर।"

नहीं समझ सकेगा। इसलिये न समझनेवाली बात नासमझों की है। गद्य-पद्य की भाषा सदा से दो होती आई हैं, और सदा होंगी। इन दोनो में सदा से अंतर रहा है, और रहेगा। अँगरेज़ी में भी यही बात है। अँगरेज़ी-कवि वर्डस्वर्थ ने गद्य-पद्य की भाषा का एकीकरण करना चाहा था, पर अपना-सा मुँह लेकर रह गया।

खड़ी बोली के कवि भी गद्य से विलक्षण भाषा में पद्य रचते हैं। यथा—

> "जान जामाता बहुत नरसिंह ने रोका उन्हें;
> और शीतल दृष्टि से सप्रेम अवलोका उन्हें।"

'अवलोका' गद्य में कभी नहीं आता, और न बोलचाल में। 'अवलोकन किया' अवश्य आता है। जो हिंदी सीखनेवाला केवल गद्य की ही भाषा सीखेगा, वह 'अवलोका' का अवलोकन कर अवश्य ही आश्चर्यान्वित हो जायगा। अतः हिंदी-साहित्य के शिक्षार्थियों को दोनो प्रकार की भाषाओं की शिक्षा लेनी पड़ेगी। केवल बोली सीखनेवाले के लिये इसकी ज़रूरत नहीं है। यह कहना सरासर अन्याय है कि व्रजभाषा में केवल शृंगार-रस की कविताएँ हैं, और अश्लील हैं। यदि व्रजभाषा में अश्लीलता है, तो खड़ी बोली भी अश्लीलता से अछूती नहीं है। देखिए—

> "आलाप दूरि, परिरंभण दूरि, अंग-
> स्पर्शादि दूरि अरु दूरि निशि-प्रसंग।"*

* इस पद्य का अर्थ ग़लत किया गया है।—संपादक

कहिए, इसमें अश्लीलता है या नहीं! "आलाप को दूर कर सकते हैं, परिरंभण को भी दूर कर सकते हैं, पर अंगस्पर्शादि और निशि-प्रसंग को दूर नहीं कर सकते।" यदि कोई कुमारी कन्या अंगस्पर्शादि और निशि-प्रसंग का अर्थ पूछे, तो मौन रहने के सिवा कविजी और क्या करेंगे! यह रचना भी ऐसे वैसे कवि की नहीं, खड़ी बोली के प्रसिद्ध आचार्य की है। अभी अश्लीलता के अनेकों उदाहरण हैं; पर सभ्य-समाज के सम्मुख उनका उपस्थित करना समीचीन नहीं। अतएव यहीं अलम् है। अश्लीलता के अनुरागी अधीर न हों; ध्यान लगाए बैठे रहें। उनकी भी इच्छा पूरी हो जायगी।

भाषा की क्लिष्टता और जटिलता में तो खड़ी बोली बेचारी व्रजभाषा के भी कान काटती है। उदाहरण लीजिए—

"चेतोहारी सुमग नवलनारि बक्षोजल्पा,
ऊँची-ऊँची कुमुद-कलिका स्वच्छ अच्छी अनूपा।"

एक और—

"प्रफुल्लिता, कोमल, पल्लवान्विता; मनोज्ञता-मूर्ति, नितांतरंजिता;
वनस्थली थी मकरंदमोदिता, अकीलिता कोकिल-काकलीमयी।"

क्यों, इसमें सारल्य कूट-कूटकर भरा है न!

अब खड़ी बोली में शब्दों की तोड़-फोड़ भी देख लीजिए—

"शाहजहाँ ने शान्ति-नीति को पुष्ट बनाया;
छीर-फेन-सम धवल सुजस छिति पर छहराया।
प्रजा पुत्र-से पाल सभी की विपति बँटाई;

करके मुहे प्रसन्न महा धन-रासि लगाई।
पुनि विरच तास्रौजा रुचिर, सब जग आचरजित किया;
रच विसद तख़्ततॉउस जस, गुन-ग्राहकता का लिया।"

एक और—

"किया समादर अति प्रगाढ़ भाषा कविता का;
भूषण कवि को नहीं दान देने में थाका।"

यहाँ 'आश्चर्यिता' को तोड़-मरोड़कर 'आचरजित' करना आश्चर्य-जनक नहीं, पर 'थका' को 'थाका' होते देख बुद्धि बेतरह थक जाती है। तोड़-मरोड़ के लिये ब्रजभाषा तो बदनाम थी ही, अब खड़ी बोली इसका शौक़ क्यों करने लगी?

खड़ी बोली भी शब्दाडंबर से शून्य नहीं। भाव का अभाव तो बना ही रहता है। इसकी गवाही नीचे लिखी पंक्तियाँ देती हैं—

"था जहाँ पर हर्ष का आलोक उज्ज्वल जगमगा;
अब भयंकर शोक का तांडव वहाँ होने लगा।
जानता था भंग होना कौन यों रस-रंग का?
ध्यान था किसको, अहो, इस शोचनीय प्रसंग का?"

हर्ष के आलोक के बाद शोक का अंधकार होना उचित है या तांडव? भला खड़ी बोली के 'रस-रंग' 'प्रसंग' को कौन 'भंग' कर सकता है?

ब्रजभाषा में स्वाभाविक वर्णन, देश-दशा-वर्णन और राष्ट्रीयता का जो अभाव बताते हैं, उन्हें नीचे लिखे पद्य कंठस्थ कर लेने चाहिए—

## स्वाभाविक वर्णन

"नव उज्ज्वल जल-धार हार हीरक-सी सोहति;
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत,
जिमि नर-गन मन बिबिध मनोरथ करत मिटावत।
सुभग स्वर्ग-सोपान-सरिस सबके मन भावत;
दरसन, मज्जन, पान त्रिविध भय दूर मिटावत।
श्रीहरिपद-नख-चंद्र-कांति-मनि द्रवित सुधा-रस;
ब्रह्म - कमंडल - मंडन भव - खंडन सुर-सरबस।
शिव-सिर मालति माल, भगीरथ नृपति पुण्य-फल;
ऐरावत गज गिरिपति हिमनग कंठहार कल।
सगर-सुवन सठ सहस परस जल-मात्र उधारन;
अगिनित-धारा-रूप धारि सागर संचारन।
कासी कहँ प्रिय जान ललकि भेंट्यो जग धाई;
सपनेहूँ नहिं तजी, रही अंकम लपटाई।
कहूँ बँधे नव-घाट उच्च गिरिवर - सम सोहत;
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत।
धवल धाम चहुँ ओर, फरहरत धुजा-पताका;
घहरत घंटा-धुनि, धमकत धौंसा करि साका।
मधुरी नौबत बजत कहूँ नारी-नर गावत;
बेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत।
सुंदरी गहत नीर कर - जुगल उछारत;

जुग अंबुज मिलि मुक्त-गुच्छ मनु सुच्छ निकारत।
धोअत सुंदर बदन करन अति ही छबि पावत;
बारिधि नाते शशि-कलंक मनु कमल मिटावत।
सुंदरि शशि-मुख नीर-मध्य इमि सुंदर सोहत;
कमल-बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत।
दीठि जहाँ-जहँ जात रहत तितहीं ठहराई;
गंगा-छबि हरिचंद कछू बरनी नहिं जाई।

( हरिश्चंद्र )

## देश-दशा-वर्णन

सैफ गई, बरछी गई, गए तीर - तरवार;
घड़ी-छड़ी चसमा भए छत्रिन के हथियार।
विश्वामित्र वशिष्ट के वंसज हा श्रीराम;
सब सीखत हैं पेट-हित, अरु बेचन हैं चाम।
बहु दिन बीते राम प्रभु खोए अपनो देस,
खोवत हैं अब बैठ के भाषा-भोजन - भेस।

( बाबू बालमुकुंद गुप्त )

सीखत कोउ न कला उदर भरि जीवत केवल;
पसु - समान सब अन्न खात पीवत गंगा-जल।
धन बिदेस चलि जात, तऊ जिय होत न चंचल;
जड़-समान ह्वै रहत अकल-हत रचि न सकत कल।
जीवन बिदेस की बस्तु लै, ता बिन कछु नहिं कर सकत,

जगि जागो अब साँवरे, सब कोउ रुख तुम्हरो तकत।

(हरिश्चंद्र)

ब्रजभाषावाले कहते हैं, वीर-रस की कविता में "तुरत तड़कै" हीन ही हृदय को उत्तेजित करनेवाले पद भी हैं। यथा—

चलहु बीर उठि तुरत सबै जय-ध्वजहिं उड़ाओ;
लेहु म्यान सों खड्ग खींचि रन-रंग जमाओ।
परिकर कसि कटि उठो धनुष पै धरि सर साधौ,
केसरिया बानो सजि-सजि रन-कंकन बाँधौ।
जौ आरजगन एक होइ निजरूप सँभारैं;
तजि गृह कलहहि अपनी कुल-मरजाद निहारैं।
तो ये कितने नीच कहा इनको बल भारी;
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारी।"

(नील देवी)

ब्रजभाषावाले खड़ी बोलीवालों से पूछते हैं कि राष्ट्रीयता और व्यापकता के लिहाज से बोलचाल की भाषा में कविता लिखना विशेष उपयोगी है, तो किसकी, और कहाँ की बोलचाल की भाषा में कविता लिखनी चाहिए—बिहारियों की या पंजाबियों की, बैसवाड़ियों की या ब्रजवासियों की, काश्मीरी पंडितों की या लखनवी बेगमों की, मारवाड़ी-किसानों की या पाथा-पंडितों की, दिल्ली-लखनऊ या आजमगढ़-मऊ की, काशी की या [illegible] की! किसकी बोलचाल की भाषा टकसाली मानी जाय, जिसमें

कविता बने ! इस सवाल का हल होना जरा टेढ़ी खीर है, क्योंकि सभी अपनी-अपनी बोलचाल की भाषा में कविता करना चाहेंगे। इसका नतीजा यह होगा कि हिंदी दो मुल्लों की मुर्गी बन जायगी, और खींचा-तानी में पड़ कुछ उन्नति न कर सकेगी। इसलिये नई भाषा, यानी खड़ी बोली में ही कविता किए जाने का जो आग्रह करते हैं, वे ही, सच पूछिए, तो हमारी राष्ट्रभाषा के 'जानी दुश्मन हैं'।

बेतुकी भाषा के विषय में व्रजभाषावालों का कथन है कि दूसरी भाषाओं की नक़ल कर हिंदी में एक नई आफ़त खड़ी करने की क्या ज़रूरत है ! बेतुकी कविता के बिना हिंदी की क्या हानि है ! जब और बातें बेतुकी होने लगीं, तब भला कविता बेतुकी न हुई, तो क्या हर्ज है ! जो प्रकृत और प्रतिभाशाली कवि हैं, उनके आगे अनुप्रास हाथ जोड़े खड़ा रहता है। अनुप्रास के कारण उनके भाव भ्रष्ट नहीं होते। जो कच्चे कवि हैं, वे ही अनुप्रास के अन्वेषण में असमर्थ हो भाव को भ्रष्ट करते हैं। बेतुके कवि भी तो अनुप्रास का आदर करते हैं। अंतर इतना ही है कि अनुप्रास को अंत में न लाकर आदि-मध्य जहाँ पाया, वहीं रख देते हैं। मौक़ा मिल जाय, तो अंत में भी लाते हैं, पर कहते हैं कि यह भिन्न तुकांत कविता है। निम्न-लिखित पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं—

"किरीट के अंक हिलोरलीन की,
बसंती शोभा झलोरलीन की।

गई हैं, तो कविता का ढंग भी बदल गया है। समय आप ही सब कुछ करा लेगा। आपस में व्यर्थ झगड़ा करने से कोई लाभ नहीं।

खड़ी बोली के प्रेमियों से प्रार्थना है कि वे ब्रजभाषा के कवियों को गालियाँ देने के बदले अपने घर का कूड़ा साफ़ करें। अभी खड़ी बोली की कविता जैसी होनी चाहिए, वैसी नहीं होती। उसमें प्रायः भाव का अभाव और ओज की व्यर्थ खोज है। लालित्य के तो लाले पड़े रहते हैं। इसमें खड़ी बोली का दोष नहीं, दोष है उसके अधिकांश कवियों का, जो स्वयंभू कवि बन जाते हैं। और, अधिक दोष है उनके पिट्ठुओं का, जो हर किसी को साहित्यरत्न, साहित्यसम्राट् बना देते हैं। उर्दू भी तो खड़ी बोली ही है। देखिए, उसके कवि कैसी कविता करते हैं—

> "सदियों से फ़िलासफ़ी की चुना और चुनी रही;
> लेकिन ख़ुदा की बात जहाँ थी, वहीं रही।"

इन दोनो पंक्तियों में कवि ने कैसी ख़ूबी के साथ फ़िलासफ़ी-बाज़ों पर व्यंग्य किया है, यह देखकर दंग हो जाना पड़ता है। और सुनिए—

> "बादे मुर्दन कुछ नहीं यह फ़िल्सफ़ा मरदूद है;
> दीन ही को देखिए, मुर्दा है, और मौजूद है।"

इन चुले शब्दों में कैसा जादू भरा हुआ है! सुनते ही दिल फड़कता है। और सुनिए—

"बेपरदा कल जो आईं नज़र चंद बीबियाँ ;
अकबर ज़मीं में ग़ैरते-क़ौमी से गड़ गया।
पूछा जो उनसे आपका परदा वह क्या हुआ ?
कहने लगीं कि अक़्ल पै मर्दों की पड़ गया।"

परदा उठानेवालों पर कैसा सुंदर आक्षेप है !

यह इलाहाबाद के तोहफ़ा जनाब अकबरहुसेन साहब की शायरी है, जिनकी बाबत कहा जाता है—

"कुछ इलाहाबाद में सामाँ नहीं बहबूद के;
यहाँ धरा क्या है बजुज़ अकबर के और अमरूद के।"

क्या खड़ी बोली में दिल में चुभनेवाली ऐसी एक भी पंक्ति है ? मुझे तो काव्य क्या, महाकाव्य में भी नहीं मिली। फिर वह कविता ही क्या, जिससे दिल न फड़क उठे। कहा भी है—

"तया कवितया किंवा किंवा वनितया तया;
पद-विन्यासमात्रेण मनोन हृतं यया।"

अश्लीलता के भय से अर्थ नहीं लिखा।

बात यह है कि स्वाभाविक और प्रतिभाशाली कवि के लिये जैसी खड़ी बोली, वैसी व्रजभाषा। वह चाहे जिसमें अच्छी कविता कर सकता है। स्वर्गवासी पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने बैसवाड़ी बोली में भी बुढ़ापे का कैसा सुंदर स्वाभाविक वर्णन किया है कि पढ़कर जी लोट-पोट हो जाता है। लीजिए—

"हाय बुढ़ापा तोहरे मारे अब तो हम नकन्याय गयन;
करत-धरत कछु बनतै नाहीं, कहाँ जान औ कैस करन।

छिन-भरि चटक, छिनै माँ मद्धिम, जस बुझात खन होय दिया,
तैसे निखवख देखि परत है हमरी अक्किल के लच्छन।
अस कछु उतरि जाति है जी ते बाजी ब्यरियाँ बाजी बात,
कैसो सुधि ही नाहीं आवति मूँड़इ काहे न दै मारन।
कहा चही कछु, निकरत कछु है, जीभ राँड़ का है यहु हालु;
कोऊ याको बात न समझै, चाहै बीसन दाँय कहन।
दाढ़ी नाक याक माँ मिलिगी, बिन दाँतन मुहुँ अस पोपलान,
दाढ़ी ही पर बहि-बहि आवति कबौं तमाखू जो फाँकन।
बार पाकिगे, रीरौ झुकिगै, मूँड़ौ सासुर हालै लाग;
हाथ-पायँ कछु रहे न आपन, केहिके आगे दुख र्‌वावन।"

अब हिंदी के प्रसिद्ध कवि श्रीमान् पं० श्रीधर पाठक के देहरादून-यात्रा का वर्णन भी सुन लीजिए। इसकी भाषा गँवारू पूर्वी होने पर भी कैसी सरस है—

"ग्यारह मई मदिनवा तेरह साल,
अदितवार अधदिनवा धूप दुकाल।
कठिन घोर दुपहरिया लुक्कर जोर,
चलेउ तेज असवरिया टेसन ओर।
तुरतहि सब असबबिया बिल्टी कीन,
मारी भीर सबबवा सँग नहिं लीन।
बैठत तुरत रेलिया सीटी दीन,
बिजु अस चपल मेअलिया चाल प्रवीन।
पहिले चलिस चिचिलिया कोमल चाल,

पुनि फल-फल अलबेलिया बढ़िहि बेहाल।
भागत उपल पथरवा त्यागत देग,
बन-उपवन उत-थलवा बिगम बिसेग।
दौरत तट भुइँ पेड़वा निपट दिखाहिं,
लागत लुअन थपेड़वा मुँह के माँहिं।
गमतम तरत सुरुजवा, जरत अकास,
चमचम चमकत बँधवा विकट प्रकास।"

खड़ी बोलीवालों को एक तो शब्दों को तोड़ना-मरोड़ना न चाहिए, दूसरे खड़ी बोली की कविता में ब्रजभाषा की पुट न डालनी चाहिए। इससे भाषा खिचड़ी हो जाती है। जिन दोषों को दूर करने के लिये खड़ी बोली में कविता की जाती है, जब वे बने ही रहे, तो फिर खड़ी बोली की क्या जरूरत है! इससे तो ब्रजभाषा ही अच्छी। विशुद्ध ब्रजभाषा या खालिस खड़ी बोली में कविता होनी चाहिए। दोनों की खिचड़ी न पकनी चाहिए। इसकी आवश्यकता भी नहीं है। खालिस खड़ी बोली में खासी कविता हो सकती है। बनानेवाला चाहिए। उर्दू का नमूना दिया गया। अब हिंदी का दिखाता हूँ—

"कण-कण प्यारी बसंत ऋतु ऋतुओं में प्यारी,
देता शुभागमन सुख फूली केसर-क्यारी।
भासो तुमको देख रही है ओस उदार,
[illegible]
[illegible]

फूल फूल दिखलाते हैं छवि अपने मन की।
पेड़ झुलाते हैं तुझको टहनियाँ हिलाके;
बड़े प्रेम से टेर रहे हैं हाथ उठाके।
मारग तकते बेरी के हुए मन फल पीले;
तकते-तकते शीत हुए सब पत्ते ढीले।
नीबू - नारंगी है अपनी महँक उड़ाए;
लाल अनार है कलियों की दुरबीन लगाए।
पत्तों ने गिर-गिर तेरा पाँवड़ा बिछाया;
झाड़-पोंछ वायु ने उसको स्वच्छ बनाया।
फूल सुघनी की टोली उड़-उड़ डाली-डाली;
झूम रही है मद में तेरे हो मतवाली।
इस प्रकार है तेरे आने की तैयारी;
आ-आ प्यारी बसंत सब ऋतुओं में प्यारी।"

इसकी भाषा कैसी सरल, सुबोध और शुद्ध है। भाव कैसा भव्य और रचना-शैली कैसी सुंदर है।

ब्रजभाषा के अनुरागियों से भी मेरा यही नम्र निवेदन है कि अब "यहि पाखें पतिव्रत ताखें धरौ" और "ठमठ अरीरी में मरीरी कद मुख ते" का ध्यान छोड़िए। अब

"भजन प्रयत्न सौं सकेत परजंक पाय,
प्रफँद फुँदी के फंद-फंदन दुराय रे;
केलि कुल कलाकल, कुलकलै कूल-कूल
कुल कौल-कौल कील कली कुल काय रे।

उरु अवलंब अलि, अवहि अबोल बोल,
लाल-लाल लोयन सों सलिल बहाय रे;
ईलै उलै ओल ओली, ओलत अली लै ओले,
हौलै-हौलै लोरे फल, बोले हाय-हाय रे।"

जैसे कवित्तों से काम न चलेगा। समय बदल गया है। अब न
तो वह 'कलिंदी-कूल' है और न 'कदंब की डारन' हैं। अब तो

"लसत लहलही जहाँ सघन सुंदर हरिआई,
तहँ अब उसरमयी भई, नसि गई निकाई।"

ऐसी अवस्था में समय देखकर काम करना चाहिए। समय के
अनुकूल चलने से सफलता और प्रतिकूल जाने से विफलता होती
है, इसका सदा स्मरण रखना चाहिए। फालतू बातें छोड़कर
काम की बातें कहिए, जिससे नाम हो, और काम बने। उठिए,
उत्तेजना दीजिए। इस समय इसकी आवश्यकता है। यदि
आपको वास्तव में व्रजभाषा की भक्ति है, और उसकी शक्ति
बनाए रखने की इच्छा है, तो उसका संस्कार कीजिए। नए-
नए रत्न लाने का प्रयत्न कर उसका भांडार भरिए, नहीं तो
पछताने के सिवा और कुछ हाथ न आयगा। अब सरल,
सुबोध, साधु और शुद्ध भाषा में स्वराज, समाज और स्वदेश-
संबंधी कविता कीजिए, जिससे साहित्य और स्वदेश का
कल्याण हो।

इसमें संदेह नहीं कि व्रजभाषा और खड़ी बोली, दोनो
से राष्ट्रभाषा हिंदी का विभव बढ़ता ही है, घटता नहीं।

इसलिये—

> खड़ी-पड़ी औ अड़ी - गड़ी बोलिन कों रगरौ;
> करौ न कबहूँ भूलि जानि यह झूठौ झगरौ।
> हिंदू आरज नामन कौ झगरौ मत ठानौ;
> जगन्नाथ की कही मरम इतनौ तौ मानौ।

'मल्लारिमार्तंड' के संपादक को मेरा भी कृतज्ञ होना चाहिए, क्योंकि 'सरस्वती' और 'मिश्रबंधु-विनोद' की तरह मैंने भी उनका पक्ष पुष्ट करने के साधन संग्रह कर दिए हैं।

### गद्य

अब गद्य में गोते लगाता हूँ, तो वहाँ भी अंधेर का अंश पाता हूँ। शब्द, शैली और शील का संहार हो रहा है। "म मानो घरजानी" का बाजार गर्म है। जिसे देखो, वही सिद्ध बना बैठा है। जिसके मुँह से जो कुछ शुद्ध-अशुद्ध नि जाता है, वह उसे ही पत्थर की लकीर समझ लेता है। स समझाने पर भी कोई खाक नहीं समझता। खंडन-मंडन गाली-गलौज तक की नौबत पहुँच जाती है; पर निर्णय नहीं होता। वही ढाक के तीनो पात रह जाते हैं। इस परिणाम यह हुआ कि जितने लेखक हैं, उतने प्रकार की है, उतने प्रकार का वर्ण-विन्यास और उतने ही प्रकार वाक्य-रचना। तात्पर्य यह कि हिंदी-लेखकों की स्वेच्छाचारि बढ़ रही है। यदि यह न रोकी जायगी, तो हिंदी-साहि की बड़ी हानि होगी। इसलिये गद्य-भाग का सिंहावलो

सम्यकरूप से करना कर्तव्य है। पर लेख बहुत लंबा हो गया। अतः इसे यहीं समाप्त कर शेषांश के लिये अगले सम्मेलन तक समय लेता हूँ, और यह कहने के लिये क्षमा माँगता हूँ कि—

जिस हिंदू के है नहीं हिंदी का अनुराग;
निश्चय उसके जान लो, फूट गए हैं भाग।

क्योंकि—

जिसको प्यारी है नहीं निज भाषा, निज देश;
पशु-सा है वह डोलता नर का धरकर भेस।

इसी से—

कुल-कुपूत-करनी निरखि धरनी के उर दाह;
धधक उठत सोई कबहुँ ज्वाला गिरि की राह।

और—

निरखि कुचाल कुपूत की धरनी होति अधीर;
नैनन निरझर सौं झरत, मानौं तातो नीर।

अतएव—

मन हिंदी हिंदी कहु रे;
अँगरेजी कौं तजिकै प्यारे अपनी भाषा गहु रे।
दीन-हीन हिंदी-भाषा है, यह कलंक मत सहु रे;
निज भाषा की सेवा करिकैं 'जगन्नाथ' जस लहु रे।

---

# हिंदी-लिंग-विचार*

संस्कृत-व्याकरण का लिंग-प्रकरण जैसा कठिन और जटिल है, वैसा हिंदी-व्याकरण का नहीं। पत्नी-वाचक होकर भी 'कलत्र'-शब्द संस्कृत में क्लीबलिंग और 'दार'-शब्द पुंलिंग है। समस्त संसार का स्रष्टा होकर भी ब्रह्म नपुंसक है। यह सरासर असंभव और अस्वाभाविक है। आनंद की बात है, हमारी प्यारी हिंदी में ऐसी बेढंगी बातें नहीं। यहाँ पुरुष, पुरुष और स्त्री, स्त्री ही रहती है। लिंग-विपर्यय नहीं होता।

संस्कृत में तीन लिंग हैं—पुंलिंग, स्त्रीलिंग और क्लीबलिंग। संस्कृत से निकली हुई भाषाओं का विचित्र हाल है। किसी में तीन लिंग, किसी में दो और किसी में एक भी नहीं, जैसे गुजराती-मराठी में तीन हैं। बँगला और उड़िया-भाषाओं में संस्कृत-तत्सम शब्द, संस्कृत के अनुसार उन्हीं तीन लिंगों में विभक्त हैं; पर ठेठ बँगला और उड़िया-शब्द लिंग-रहित हैं। पंजाबी और सिंधी की तरह हिंदी में भी दो ही लिंग। यहाँ स्त्री या पुरुष के सिवा कोई नपुंसक नहीं। अगर गड़बड़ भी है, तो चोल-कौओं में। क्योंकि हिंदी में

* यह बंबई के नवम हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में पढ़ा गया।

कौआ नित्य पुंलिंग, और चील नित्य स्त्रीलिंग है। पर तो भी कुछ लोग हिंदी के लिंग-प्रकरण पर कुठाराघात करने के लिये तुले बैठे हैं। अगर इनकी चलती, तो बँगला की तरह हिंदी के लिंग का भी आज तक सफाया हो जाता। पर भगवान् गंजे को नाखून ही नहीं देता।

लिंग-विरोधियों का कहना है कि हिंदी का लिंग-भेद बड़ा कठिन है। और भाषाओं में तो संज्ञा-सर्वनाम में लिंग होता है; पर हिंदी की क्रिया भी लिंग से खाली नहीं। इससे भिन्न भाषा-भाषी ही नहीं, हिंदी-भाषा-भाषी भी हैरान हैं। बहुत सावधान रहने पर भी वे लिंग की भूलों से नहीं बच सकते, क्योंकि हिंदी में सजीवों की कौन कहे, निर्जीव भी स्त्रीलिंग-पुंलिंग के फेर में पड़े हैं। इसलिये जहाँ तक बने, जल्द इस बला को हिंदी से दूर करना चाहिए, क्योंकि हिंदी के राष्ट्रभाषा होने में लिंग बड़ी भारी बाधा डाल रहे हैं। इत्यादि।

जिन्हें इसका विश्वास न हो, वह 'मिश्रबंधु-विनोद' खोलकर पढ़ लें। उसमें लिखा है—"हिंदी में सबसे बड़ा झगड़ा लिंग-भेद का है। इसके कोई भी स्थिर नियम नहीं हैं, केवल बोलचाल और मुहावरे के अनुसार इस पर काररवाई की जाती है।"

यदि कोई भिन्न भाषा-भाषी या विदेशी ऐसी बात कहता, तो आश्चर्य न होता, पर हमारे मिश्रबंधु महाशय हिंदी बोलनेवाले ही नहीं, हिंदी के सुलेखक और सुकवि भी कहाते हैं। इनके मुँह से यह सुनकर कि हिंदी के कोई स्थिर नियम नहीं, आश्चर्य

नहीं, कौतूहल भी होता है। स्थिर नियम हैं या नहीं, यह कुछ
यह केलॉग साहब ( Rev. S. H. Kellogg ) क्या कहते
हैं, केवल वही यहाँ उद्धृत कर देता हूँ। केलॉग साहब ने
अँगरेजों के लिये हिंदी का व्याकरण बनाया है। उसमें वह
कहते हैं—

"Although, as thus appears, the gender of a Hindi word often seems to be quite arbitrary, yet there are certain practical rules by which the gender of most nouns may be known."

अर्थात् "हिंदी-शब्दों का लिंग यद्यपि मनमाने तौर से बना लिया गया है, तथापि कुछ नियम हैं, जिनसे अधिकांश शब्दों का लिंग जाना जा सकता है।" बस, इन्हीं दोनो उक्तियों को आप मिलाकर देख लें, और जो कुछ समझना हो, समझ लें। एक तो हिंदी-भाषा-भाषी हैं, और दूसरे भिन्न भाषा-भाषी विदेशी। पहले सज्जन कहते हैं कि स्थिर नियम नहीं है, और दूसरे कहते हैं कि हैं। मैं समझता हूँ कि आप लोग पहले सज्जन की ही बात मानेंगे, क्योंकि वह हिंदी के सुपुत्र हैं। उनकी ही बात सत्य हो सकती है। पर अफ़सोस! बात उल्टी निकली। ऐसे ही सुपुत्रों की बातें सुनकर भिन्न भाषा-भाषियों को हिंदी पर आक्षेप करने का अवसर मिल जाता है। इसी 'मिश्रबंधु-विनोद' के सहारे इंदौर के 'मल्हारिमार्तंड' के प्रचंड संपादक ने गत
[illegible]
...था। खैर, केलॉग

साहब ने कुछ नियम बताए हैं, जिनमें पहला यह है
rules respect, either the signification of nouns or their terminations. अर्थात् अर्थ और प्रत्यय के अनुसार लिंग होता है। और, बात भी यही है, पर जो यह नियम नहीं जानते, वे लिंग-विपर्यय करते और कहते हैं कि हिंदी में स्थिर नियम ही नहीं है। खैर, नियम है कि जिन शब्दों में हट, वट आदि प्रत्यय हों, वे स्त्रीलिंग होते हैं, जैसे बनावट, चिल्लाहट आदि। इस विषय में अँगरेज़ की भी गवाही ले लीजिए, क्योंकि आजकल उन पर लोगों का, विशेषकर हमारे बंधुओं का, बड़ा विश्वास है। केलॉग साहब कहते हैं—All nouns in हट or वट are feminine बुलाहट, बनावट आदि। कुछ लोगों ने भ्रम-वश बुलाहट और बनावट के वज़न पर 'झंझट' को भी नारी पहना एक नया झंझट खड़ा कर दिया। झंझट में हट, वट कोई प्रत्यय नहीं। यह स्वतंत्र शब्द है। फिर यह कैसे स्त्रीलिंग हो गया, इसका विचार कोई नहीं करता। सभी 'गडलिकाप्रवाह'-न्याय से चले जाते हैं। अगर सोचें-विचारें, तो ऐसी भद्दी भूलें ही न हों। शिष्ट प्रयोग की तरफ़ जाइए, तो वहाँ भी झंझट आपको पुरुष वेष में ही मिलेगा।

हिंदी के प्रसिद्ध कवि और लेखक स्वर्गवासी पंडित प्रतापनारायण मिश्र 'मन की लहर' में कहते हैं—

"मिला रहे अपने प्यारे से नशे में उसके चूर रहे;
जो चाहे सो करे, सारे झंझट से दूर रहे।"

'भारतमित्र' के भूतपूर्व संपादक मित्रवर स्वर्गवासी बाबू बालमुकुंद गुप्त दिल्ली-प्रांत के वासी थे। उन्हें इस विषय का मैं प्रमाण ( authority ) मानता हूँ। वह झंझट को सदा पुंलिंग ही मानते थे। इसका प्रमाण 'गुप्त-निबंधावली' के ८९वें पृष्ठ पर है। उसमें लिखा है—"न मार्ग चल झंझट।"

जोधपुर-निवासी प्रसिद्ध इतिहासज्ञ मुंशी देवीप्रसादजी मुंसिफ़ 'बहराम बहरोज' नाम की हिंदी-पुस्तिका के २१वें पन्ने में लिखते हैं—"बहरोज ने यह खबर सुनकर अपने बाप और चचा से कहा कि मैं तो विवाह करके बड़े झंझट में पड़ गया।"

'सतसई-संहार'-वाले श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा संस्कृत-हिंदी के अच्छे विद्वान्, और फ़ारसी-उर्दू के आलिम हैं। उनसे पूछा, तो वह लिखते हैं—"झंझट के झगड़े में आपकी सर्वतोमुखी जीत हुई। उर्दू के कोशकार फ़रहंगे-आसफ़िया के लेखक देहलवी और जलाल, तथा जलील लखनवी इसे मुज़क्कर ( पुंलिंग ) ही मानते हैं।" पद्मसिंहजी सिर्फ राय ही नहीं देते, पुंलिंग में इसका प्रयोग भी करते हैं। ३०।५।१८ के पत्र में आप लिखते हैं—"अब आपको गृहस्थ के झंझटों का अधिक सामना करना पड़ेगा।"

इसलिये झंझट के पुंलिंग होने में अब झगड़ा या झंझट न होना चाहिए।

संकट के बाद 'आहट' है। इसकी भी खूब खींचा-तानी है। इसमें 'हट' प्रत्यय नहीं, तो भी इसका प्रयोग स्त्रीलिंग-सा है। स्वर्गवासी राजा लक्ष्मणसिंह हिंदी के उन्नायकों में से हैं। वह आगरे के निवासी थे। इससे उनके प्रयोग प्रमाण-स्वरूप हैं। राजा साहब के बनाए 'अभिज्ञान शकुंतला'-नाटक की दो प्रतियाँ मेरे सामने हैं। एक तो आगरे के मून-प्रेस की सन् १९०४ की छपी है, और दूसरी काशी के सेंट्रल हिंदू-कॉलेज के अध्यापक और बनारस की नागरी-प्रचारिणी सभा के भूतपूर्व मंत्री तथा उपसभापति बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए० द्वारा संपादित सन् १९०८ ई० की है, जो प्रयाग इंडियन प्रेस में छपी है। इन दोनो में बड़ा भारी लिंग-भेद है। अब मैं किसे प्रमाण मानूँ, यह समझ में नहीं आता; क्योंकि उधर तो राजा लक्ष्मणसिंह आगरे के, और इधर बाबू श्यामसुंदरदास काशी के। खैर, इसके निर्णय का भार मैं विद्वानों पर छोड़ आगे बढ़ता हूँ।

आगरेवाली प्रति के १०वें पन्ने की टिप्पणी में लिखा है—"हमारा आहट पाकर कुछ भी नहीं चौंकते।" और प्रयागवाली के चौथे पृष्ठ में है—"हमारी आहट पाकर कुछ भी नहीं चौंके।"

शायद यह छापाखाने के भूतों की लीला हो। इसलिये लिंग-परिवर्तन का दूसरा उदाहरण लीजिए। आगरेवाली प्रति के १२६वें पन्ने में माढव्य की यह उक्ति है—"जहाँ मणि-जटित पटिया बिछी है, वही माधवी कुंज है। निस्संदेह यह

ऐसी दीखती है, मानो मनोहर फूलों की भेंट लिए हमें आदर देती है। चलो, यहीं बैठें।"

यहाँ 'कुंज'-शब्द की ओर आप लोगों का ध्यान आकृष्ट करता हूँ। इसे राजा साहब ने स्त्रीलिंग में प्रयोग किया है।

अब बाबू श्यामसुंदरदासवाली प्रति खोलिए। उसके ७८वें पन्ने में वही माढव्य कहता है—"यह माधवी कुंज, जिसमें मणि-जटित पटिया बिछी है, यद्यपि निर्जीव है, तो भी ऐसा दिखाई देता है, मानो आपका आदर करता है। आओ, चलकर बैठें।"

यहाँ बाबू साहब ने कुंज पर कृपा कर उसे पुंलिंग बना दिया है, और 'दीखती है' को 'दिखाई देता है' कर दिया है। शायद यह भी छापे की भूल हो। तो क्या छापे की भूलें करने के लिये ही यह संपादन हुआ है?

अच्छा, 'आदर' सुन अब मत चौंकिए। आइए 'कुंज' की ओर। देखिए, यहाँ क्या गुल खिलते हैं।

चतुर्थ सम्मेलन के सभापति, हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि मेरे मित्र पं० श्रीधर पाठक भी आगरा-वासी हैं। वह अपने 'ऊजड़ ग्राम' में कहते हैं—

"कहीं-कहीं पै बहु हरियली कुंजें;
लोचन-रुचि आनंद-भरी सब सुख की पुंजें।"

'जगत-सचाई-सार' में भी पाठकजी ने कुंज को स्त्रीलिंग किया है—

यथा

"ये नदियाँ, ये झील - सरोवर,
कमलों पर भौंरों की गुंज;
बड़े सुरीले बोलों से अनमोल,
घनी वृक्षों की कुंज।"

हमारे मैनपुरी-निवासी मस्त मुँहफट कवि चौवे भीखमसिंह भी गा गए हैं—

"रानी किसोरी की कुंज में भिखमसिंह आप लोटा डार।"

इससे सिद्ध होता है कि आगरे की ओर 'कुंज'-शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है, और काशी-प्रयाग में पुंलिंग। शायद इसी से बाबू साहब ने कुंज और आहट का लिंग-परिवर्तन कर राजासाहब की इसलाह कर दी है। पर ऐसा करने का उन्हें क्या अधिकार है?

कुछ लोग गेंद को पुंलिंग लिखते हैं; पर यह स्त्रीलिंग है। यथा—

"श्याम मोहिं चोरी लगाई।
खेलत गेंद गिरी जमुना में,
तू मेरी गेंद छिपाई;
हाथ डार अँगिया में देखे,
एक ना, है चार।"

उर्दूवाले भी गेंद को स्त्रीलिंग ही मानते हैं। जैसे—

"ऐ मजहब में फसाई की फड़कना है मेरा;
हाथ में मैंने क्या हुस्ने उसकी मेहर।"

इसी तरह 'आत्मा' के स्त्रीलिंग होने का प्रमाण भी दादूदयाल की बिनती में मिलता है।

"तन-मन निर्मल आत्मा,
सब काहू की होय;
दादू विषय-विकार की
बात न बूझे कोय।"

अब तीसरा नियम लीजिए। 'इया'-प्रत्यांत-शब्द स्त्रीलिं होते हैं। केलॉग साहब भी यही बात कहते हैं—Diminutives ending in इया are feminine. यथा चिड़िया, पुड़िया आदि। अब वज़न पर लिंग बनानेवालों ने चिड़िया के वज़न पर तकिया और पहिया को भी स्त्रीलिंग बना डाला, हालाँकि इसमें 'इया' प्रत्यय नहीं है। स्वर्गवासी पंडित केशवराम भट्ट ने अपने व्याकरण के ७३वें पन्ने में साफ़ लिखा है—"आकारांत संज्ञाएँ पुंलिंग होती हैं। जैसे—तकिया, पहिया आदि।"

मैं समझता हूँ, लिंग-प्रकरण के स्थिर नियम सिद्ध करने लिये ये उदाहरण अलम् होंगे।

कोई समालोचक लिंग की भूलें न निकाले, इसलिये मि बंधुओं ने क्या अच्छा उपाय सोच निकाला है। आप 'विनोद में कहते हैं—"वे समालोचक, जो ईर्षा-द्वेष-वश आलोच्य ले

एवं लेखक का खंडन करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं, हिंदी में प्रसिद्ध लेखक तक की ऐसी ही (लिंग की) भूलें खोज निकालने के लिये बड़े उत्सुक रहा करते हैं। वे इतना तक नहीं विचारते कि यदि हमारे नामी लेखकगण भी इस लिंग-भेद को नहीं समझ सकते, तो इसमें किसका दोष है!"

मेरी समझ से इसमें सबसे बड़ा दोष है हिंदी के वैयाकरणों का, जिन्होंने मिश्रबंधुओं से सलाह लिए विना लिंग-निर्णय के नियम स्थिर कर दिए। अगर न करते, तो आज मिश्रबंधुओं के-से नामी लेखकों की ओर कौन नजर उठाकर देख सकता था। सचमुच वैयाकरणों ने यह बड़ी भारी भूल की। और, कुछ थोड़ा-सा दोष समालोचकों का भी है, जो बिना विचारे नामी लेखकों के दोष निकालते है! जिसका नाम निकल गया, फिर भला उसकी समालोचना क्या? वह चाहे जो लिखे। नामी लेखकों की समझ में लिंग-भेद न आवे, तो इसमें उनका क्या दोष है! यह लिंग-प्रकरण का ही दोष है, जो उनकी समझ में नहीं घुसता है। यही कारण है, मिश्रबंधुओं ने अपने विनोद में 'गड़बड़', 'खोज' आदि शब्दों को पुंलिंग बना लिंगों की गड़बड़ की है!

आगे चलकर 'मिश्रबंधु' और भी गजब करते हैं। आप कहते हैं—"जहाँ तक कोई नपुंसकलिंगवाला प्रयोग स्पष्ट और निर्विवाद रूप से अशुद्ध न ठहर जावे, वहाँ तक उसमें लिंग-भेद-विषयक अशुद्धियाँ स्थापित न करनी चाहिए,

क्योंकि वास्तव में निर्जीव पदार्थ न पुंलिंग हैं, और न स्त्रीलिंग।"

वास्तव में बात ऐसी ही है। कोई समझदार इससे इंकार न करेगा। निर्जीव पदार्थ न पुंलिंग हैं, न स्त्रीलिंग और न नपुंसक ही हैं। उन्हें किसी लिंग में मान लेना सचमुच सरासर अन्याय है। पर लाचारी है। यह हमारा-आपका शरीर वास्तव में नाशवान् है—यह जगत् वास्तव में अनित्य और असत्य है; पर तो भी हम संसार के सब काम करते ही हैं। ख़ैर, "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" यह वेदांत-वाक्य जाने दीजिए। आप रायबहादुरों और राजाबहादुरों को देख लीजिए। क्या ये वास्तव में बहादुर हैं? यदि हैं, तो इनकी वास्तविक बहादुरी का प्रमाण दीजिए। और, जब तक इनकी बहादुरी "स्पष्ट और निर्विवाद-रूप से" साबित न हो जाय, तब तक इन्हें रायबहादुर या राजाबहादुर न कहिए; क्योंकि मिश्रबंधु महाशय कहते हैं कि जब तक नपुंसकलिंगवाला प्रयोग स्पष्ट और निर्विवाद-रूप से अशुद्ध न ठहर जाय, तब तक उसमें लिंग-भेद-विषयक अशुद्धियाँ स्थापित न करनी चाहिए; क्योंकि वास्तव में निर्जीव पदार्थ न तो पुंलिंग हैं, और न स्त्रीलिंग। क्या आप ऐसा करने को तैयार हैं? मैं समझता हूँ [illegible]; क्योंकि यह राजाज्ञा के विरुद्ध है। जिस प्रकार हम [illegible]र और संसार को सत्य एवं नित्य मानकर सांसारिक कार्य [illegible] हैं, और एक मेंढकी मारने में भी जिनके हाथ काँपते

हैं, वे रायबहादुर, और जिनके पास एक बिस्वा भी धरती नहीं, वे राजाबहादुर माने जाते हैं, ठीक उसी प्रकार निर्जीव पदार्थ भी स्त्रीलिंग-पुंलिंग माने जाते हैं। कुछ हिंदी में ही ऐसा नहीं होता, और भाषाओं में भी होता है। सबसे पहले संस्कृत को ही लीजिए। उसमें वेद पुंलिंग और उपनिषद् स्त्रीलिंग है, और ये दोनो निर्जीव पदार्थ हैं।

जो अँगरेज़ी-भाषा आजकल गंगाजल से धोई-पखारी बड़ी पवित्र समझी जाती है, वह भी इसका शौक़ करती है। अँगरेज़ी में जहाज़ ( Ship ), चंद्रमा ( Moon ), रेलगाड़ी ( Train ) और देश ( Country ) आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं, और सूर्य पुंलिंग है। क्यों ? क्या यह सजीव है ? हम हिंदू तो सूर्य-चंद्र को भला सजीव मानते भी हैं; पर योरपवाले नहीं मानते। फिर सूर्य पुरुष, और चंद्रमा नारी क्यों ? क्या मिश्रबंधु महाशय इसका कुछ उत्तर रखते हैं ? अँगरेज़ी के असीम अनुग्रह से ही हमारा प्यारा भारतवर्ष आज भारतमाता बन गया है।

अप्राणिवाचक शब्दों का लिंग-निर्माण उनके गुणानुसार होता है। मधुरता, कोमलता, मनोहरता, सुकुमारता, निकृष्टता, हीनता, लघुता, दुर्बलता आदि गुणवाली वस्तुएँ स्त्रीलिंग, और कठोरता, उग्रता, दृढ़ता, सहनशीलता, उत्कृष्टता आदि गुणवाले पदार्थ पुंल्लिंग कहलाते हैं।

मेरे इस कथन की पुष्टि 'भारतमित्र'-संपादक पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी-कृत 'हिंदी-कौमुदी'-नामक व्याकरण से होती है,

जिसके १८वें पन्ने में लिखा है—"अप्राणिवाचक शब्दों के स्त्री-लिंग से हीनता या छुटाई का भाव निकलता है।"

पर अँगरेजी की गवाही बिना आजकल पक्ष पुष्ट नहीं होता, इसलिये ढूँढ़-ढाँढ़कर अँगरेज गवाह लाया हूँ। अँगरेज भी कैसा! खासा सिविलियन। इनका नाम है मिस्टर जॉन बीम्स (John Beames) यह अपने Comparative Grammar में कहते हैं—"The masculine is used to denote large strong, heavy & coarce objects; the feminine small, weak, light & fine ones, and the neuter, where it exists, represeats dull; inert & often contemptible things" यानी बड़ी, मजबूत, भारी और मोटी चीजें पुंलिंग; छोटी, कमजोर, हलकी तथा पतली चीजें स्त्रीलिंग, और सुस्त, ढीली तथा तुच्छ वस्तुएँ क्लीबलिंग समझी जाती हैं।

आनंद की बात है, हिंदी में क्लीबता को स्थान नहीं मिला। इसलिये इस बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

सज्जनो, हिंदी के राष्ट्रभाषा होने में लिंग बाधा डालते हैं या नहीं, यह अभी विचारणीय नहीं है। अभी तो यह विचारना है कि लिंग के प्रयोग में इतनी विभिन्नता क्यों है, और उसके सुधार का क्या उपाय है? साथ ही यह भी निवेदन कर देना अनुचित न होगा कि मैं अंग-भंग कर हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में नहीं। "या गंगे को बाहिर, नाकों दूटे कान।"

मैं वैसा सोना नहीं चाहता, जिससे कान टूटें। मैं हिंदी की वैसी उन्नति नहीं चाहता, जिससे उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो! इसके सिवा हिंदी अपनी सरलता और व्यापकता के कारण स्वयं ही राष्ट्रभाषा बन गई है, और बनती चली जा रही है।

बाक़ी रही लिंग के प्रयोग की कठिनता, वह शिक्षा और अभ्यास से दूर हो सकती है। अँगरेज़ी-जैसी कठिन और दुरूह भाषा हम सीख लेते हैं, जिसमें अक्षरों का अभाव, वर्ण-विन्यास का व्यतिक्रम और उच्चारण की उच्छृंखलता है। नियम का तो वहाँ नियम ही नहीं है। लिखा जाय Psalm, और पढ़ा जाय साम। There देअर और Here हीअर। Circle में 'सी' क और स, दोनों का काम करती है। इसके सिवा जहाँ Running Water माने बहता पानी, और Walking stick माने टह-लती हुई छड़ी न होकर टहलने की छड़ी होता है, वहाँ के गड़बड़झाले का क्या ठिकाना है। जब इस भाषा को हम केवल सीख ही नहीं, अँगरेज़ों की तरह ठीक बोल और लिखकर गौरव प्राप्त कर सकते हैं, तो हिंदी का लिंग-ज्ञान कौन बड़ी बात है! आख़िर यह भारत की भाषा है, और संस्कृत से निकली है। इसके सीखने में देर न लगेगी। ज़रा ध्यान देने से ही हिंदी का लिंग-प्रकरण सहज हो जायगा।

हिंदी के लिंग पर लोगों की इतनी कड़ी नज़र क्यों है? इसलिये कि कुछ पंडिताभिमानी अप्रमन्य लेखकों ने इसका दुरुपयोग किया है, और कर रहे हैं। मनमाने तौर से लिंग का

प्रयोग हो रहा है। इसका कारण हिंदी-शिक्षा और सतर्कता का अभाव है। अगर सीखकर लोग हिंदी लिखें, तो ऐसी गड़बड़ यह न हो। कोई तो अँगरेज़ी के सहारे हिंदी का मुलेखक बन जाता है, और कोई संस्कृत के। कुछ करीमा-मामकीमा पढ़कर और कुछ विना पढ़े ही हिंदी के मुलेखक तथा मुकवि बन बैठते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि ये लोग हिंदी न लिखें। जरूर लिखें। मैं इसके लिये इनसे विनीत प्रार्थना करता हूँ। पर सीखकर लिखें। यदि सीखकर लिखते, तो हिंदी के लिंग की आज यह दुर्दशा न होती। हमारे संस्कृत के पंडितजी महाराज आत्मा को कभी साड़ी न पहनावेंगे, क्योंकि उनके लिंग पर संस्कृत-प्रणाली से पगड़ बाँधते आए हैं। अब सनकते पर भी वह अपना अभ्यास न छोड़ेंगे। हिंदीवाले तो आत्मा को स्त्रीलिंग लिखेंगे, पर पंडितजी आत्मा को स्त्रीलिंग बनाना अपनी आत्मा के विरुद्ध मानते हैं। इसी तरह स्वाहा के रहते पंडितजी अग्नि को कभी स्त्रीलिंग न मानेंगे, और न देवता को वह पुंलिंग ही; क्योंकि संस्कृत में अग्नि पुंलिंग, और देवता स्त्रीलिंग है। इसी तरह वायु, महिमा, अंजली, तान, शपथ, धातु, देह, जय, मृत्यु, संतान, समाज, ऋतु, राशि, विधि आदि शब्दों में झगड़ा है, क्योंकि संस्कृत में ये पुंलिंग हैं, पर हिंदी में स्त्रीलिंग। हिंदी लिखने के समय इनका प्रयोग हिंदी के अनुसार ही होना उचित है।

अब उर्दूवालों की लीला सुनिए। वे 'धरमसाले' में 'पाठशाले'

का 'चर्चा' कर 'मोहनमाले' से 'अपना मान-मर्यादा' बढ़ाते हैं, पर हिंदीवाले ऐसा नहीं करते। वे बहुत करेंगे, तो अपनी 'कबीला' की 'हुलिया' अपनी 'तायफ़ा' को बना 'उम्दी धोती' न दे 'बेहूदी बातें' बस 'ताज़ी ख़बरें' सुनायेंगे। कहने का तात्पर्य यह कि हिंदी में धर्मशाला, पाठशाला, चर्चा, माला, मर्यादा आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं, पर उर्दूवालों ने इन्हें पुंलिंग बना दिया है। इसी तरह कबीला, हुलिया, तायफ़ा पुंलिंग हैं, पर हिंदी के रँगरूटों ने इन्हें स्त्रीलिंग कर डाला है। उम्दा, बेहूदा, ताज़ा वग़ैरह लफ़्ज़ स्त्रीलिंग के लिये कभी उम्दी, बेहूदी, ताज़ी नहीं बनते। इनका रूप सदा एक-सा रहता है।

हिंदी के लिंग-विभाग पर प्रायः सभी प्रांतवाले कुछ-न-कुछ अत्याचार करते हैं, पर बदनाम हैं बेचारे बिहारी-बंधु ही। इसका कारण समझ में न आया। अगर बिहार में 'हाथी बिहार करती है', तो पंजाब से 'तारें आती' हैं, और युक्तप्रांत के काशी-प्रयाग में लोग 'अच्छी शिकारें मारकर लंबी सलामें' करते हैं। अगर बिहार में 'दही खट्टी' होती है, तो मारवाड़ में 'बुख़ार चढ़ती है', 'जनेऊ उतरता' है; और कानपुर के जुही के मैदान में 'बूँद गिरता' और 'रामायण पढ़ा जाता' है। बिहार में 'हवा चलता' है, तो झालरापाटन में 'नाक कटता है', और मुरादाबाद में 'गोलमाल मचती' है। फिर बिहार ही क्यों बदनाम है!

कुछ गड़बड़ कोशकारों ने भी की है। पादड़ी केवन (Crave) शर्मा 'रॉयल डिक्शनरी' में अफ़वाह और भूख को पुंलिंग लिखते हैं। अँगरेजों की बात जाने दीजिए। हमारे हिंदी भी 'नवीनन' हैं। किसी ने संस्कृत-लिंग का सहारा लिया और किसी ने उर्दू-फ़ारसी का। कुछ ने तो दोनों की खिचड़ी पकाई है। हिंदी का माननीय कोष एक भी नहीं, जिसके भरोसे हिंदी का लिंग ठीक हो सके। नागरी-प्रचारिणी सभा का कोष अभी अधूरा ही है, परंतु संतोषदायक वह भी नहीं। लिंग-व्यभिचार उसमें भी हुआ है।

सबसे बढ़कर हैं वज़न पर लिंग बनानेवाले। उनका कहना है कि जब बंदूक स्त्रीलिंग है, तो संदूक को भी स्त्रीलिंग होना चाहिए, क्योंकि इन दोनो का वज़न याने तुक एक है। इसी तरह मकान के वज़न पर दूकान को पुंलिंग या दूकान के वज़न पर मकान को स्त्रीलिंग होना चाहिए।

हिंदी के सुलेखक कहलानेवाले एक सज्जन ने संदूक को दोनो लिंगों में व्यवहार किया था। मैंने इसका कारण पूछा तो बोले—"जिस समय बड़े संदूक का खयाल आ गया, पुंलिंग लिखा, और छोटे संदूक का खयाल आया, तो स्त्रीलिंग लिख..." यह माकूल जवाब सुन मैं चुप हो रहा, और कुछ पूछने की हिम्मत न पड़ी।

समास और संधि-युक्त पदों के लिंग में भी लोग गड़बड़ करने लगे हैं। ऐसे स्थानों में उत्तर शब्द के अनुसार

समस्त पद का लिंग होता है। जैसे—इच्छानुसार, ईश्वरेच्छा। यहाँ अनुसार अंत में है, इसलिये 'इच्छा' के रहते भी इच्छानुसार पुंलिंग है, और ईश्वरेच्छा में 'इच्छा' अंत में है, इसलिये यह स्त्रीलिंग है। इसी नियम के अनुसार चाल-चलन और चालव्योहार भी पुंलिंग है, पर केलॉग साहब ने इन्हें स्त्रीलिंग बताया है। यह उनकी भूल है।

'भली भाँति' की जगह 'भलो प्रकार' और 'अच्छी तरह' की जगह 'अच्छी तौर' से लिखने की चाल चली है, पर यह तौर अच्छा नहीं, और न प्रकार ही भला है।

संस्कृत के कुछ प्रेमी हिंदी में भी अपने संस्कृत-प्रेम का परिचय दे हिंदी को असंस्कृत कर रहे हैं। वे 'शृंगार-संबंधिनी चेष्टा', 'उपयोगिनी पुस्तकें', 'कार्यकारिणी सरकार', 'परोपकारिणी वृत्ति', 'प्रभावशालिनी वक्तृता', 'मनोहारिणी कविता' ही नहीं, 'प्रबला स्त्री' का भी प्रयोग करने लगे हैं। अब भविष्यत् पत्नी और भावी पत्नी के स्थान पर भविष्यंती पत्नी और भाविनी पती के भी दर्शन होंगे। फिर 'सुंदरा कन्या', 'पवित्रा धर्मशाला' में 'विदुषी व्यक्तियों' से 'संस्कृता भाषा' पढ़ेगी। इधर 'नागरी-प्रचारिणी सभा' के रहते हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की 'स्थायी समिति' 'अभागी हिंदी' की 'शोचनाय स्थिति' देख 'स्वतंत्रतावादी महिला' की भाँति 'प्रभावशाली देवता' से प्रार्थना कर रही है। इससे हिंदी बोलनेवाली व्यक्तियों, हस्तिनी शंखिनी के साथ कहीं 'कुलिनी', 'पुरुषिनी' न बन जायें।

ऐसी अवस्था में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन को प्रचार के लि
में ही सारा अधिकार न लगा हिंदी के उपकार के लिये
काम छोड़कर इसके सुधार की ओर सब प्रकार से ध
देना उचित है, क्योंकि इससे हिंदी की बड़ी हानि हो रही है।

भ्रम, भूल, हठ, दुराग्रह, प्रांतीयता चाहे जिस कारण
हो, हिंदी में उभयलिंगी शब्दों की संख्या दिनोंदिन ब
जाती है। यह हिंदी के लिये हानिकारक है। यदि यही द
रही, तो अनर्गलता बढ़ जायगी। इसलिये मेरी राय है कि
पं० गोविंदनारायण मिश्र, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० चंद्र
शर्मा गुलेरी, पं० श्रीधर पाठक और पं० अंबिकाप्रसाद वा
पेयी की एक समिति बना ली जाय, जो समाज, पुस्त,
साँस, आत्मा, हट, सामर्थ्य, प्रलय, यज्ञ, पीनल, कुराउ आदि
शब्दों का लिंग-निर्णय कर दे, और वही शुद्ध माना जाय।

प्रांतीयता का प्रेम छोड़कर दिल्ली-मथुरा-आगरे के प्रयोगों
का अनुकरण सबको करना चाहिए, क्योंकि मेरी समझ में
यहाँ के प्रयोग शुद्ध और माननीय हैं। और प्रांतों के प्रयोग
इनके प्रयोग के सामने कट जायँगे, क्योंकि हिंदी की जन्म-
भूमि यहीं है, और यहाँ के निवासी अहलेजबाँ हैं। दिल्ली-
मथुरा, आगरा इन तीनों में मत-भेद हो, तो आगरे को प्रधा-
नता देनी चाहिए, क्योंकि हिंदी के प्राचीन और नवीन कवि
अधिकांश आगरे या आगरे के आस-पास हुए हैं। शुद्ध अँग-
रेज़ी सीखने के लिये जैसे हम अँगरेज़ों के बनाए ग्रंथ पढ़े

और उनके मुँह की ओर देखा करते हैं, वैसे ही शुद्ध लिंग-प्रयोग सीखनेवालों को दिल्ली-आगरा-मथुरावालों के मुँह की ओर देखना चाहिए, और प्राचीन कवि और लेखकों के ग्रंथ पढ़ने चाहिए। लिंग-सुधार का यही अच्छा और सरल उपाय है।

---

# भाषण*

आज मंगलमय मुहूर्त है, पुण्यमय शुभ समय है—आनंदका अद्वितीय अवसर है। आज हम लोग शुचि शालग्रामी नदी के तट पर पवित्र हरिहरक्षेत्र में वीणापाणि भगवती भारती की भक्ति-पूर्वक आराधना करने के लिये बहुत दिनों के बाद एकत्र हुए हैं। वीणापाणि की उपासना से बढ़कर कोई और उपासना नहीं। इससे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सब कुछ सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। शारदा देवी की कृपा से मनुष्य अमर होता है। आज हम भी अमरत्व-प्राप्ति की आकांक्षा से यहाँ आए हैं। आशा है, माता की अनुकंपा से अवश्य ही अमर हो जायँगे।

माता के मंदिर में भेद-भाव नहीं, और न पक्षपात है। वहाँ राजा-रंक, धनी-दरिद्र सबको समान अधिकार और समान स्वतंत्रता है। सरस्वती की सेवा पर सभी का समान स्वत्व है। इसी से आज बिहार के छोटे-बड़े, बालक-बूढ़े, स्त्री-पुरुष, अमीर-ग़रीब, हिंदू-मुसलमान जाति-भेद, वर्ण-भेद तथा व्यक्ति-भेद भूलकर जगज्जननी के श्रीचरणों में पुष्पांजलि प्रदान करने को प्रस्तुत हैं। सभी का एक उद्देश्य और एक लक्ष्य है—सबका एक मन और एक प्राण है—सबका एक ज्ञान और एक ध्यान

* बिहार-प्रादेशिक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति-रूप में पठित।

है—सबका एक स्वर और एक तान है—सभी अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार माता की पूजा करने के लिये उतावले हो रहे हैं।

भाइयो, आज बहुत दिनों पर माता की याद आई है। हम लोग भले ही माता को भूल जायँ, पर माता संतान को नहीं भूलती। हम भले ही कुपूत हो जायं, पर माता कुमाता नहीं होती। वह सदा सपूतों और कुपूतों को एक ही दृष्टि से देखती है। वह पक्षपात नहीं करती। अतएव आइए, और श्रद्धा-भक्ति-सहित कहिए—

"वीणापुस्तक रंजितहस्ते, भगवति भारति देवि नमस्ते।"

सज्जनो, सरस्वती-सेवकों और साहित्य-सेवियों का यह सुंदर समारोह देख चित्त गद्‌गद हो रहा है। जिनके उद्योग से यह अलभ्य लाभ हुआ है, उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ, और आशा करता हूँ कि वह सदैव ही ऐसा दृश्य दिखाया करेंगे। पर एक प्रार्थना है कि अब के जैसी भूल हो गई, वैसी फिर कभी न हो। पर इसमें किसी का क्या दोष?

"अजस पिटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि"

गिरा ने मंथरा की मति फेरकर जैसे गड़बड़ कर दी थी, वैसे यहाँ भी उसने हमारी, आपकी, सबकी मति की गति फेर दी। बस, आपने मुझ-जैसे 'विनोदी' को सभापति चुन डाला, और मैंने भी मंजूर कर लिया। अब इस भयानक भूल का कड़वा फल हमारे-आपके सिवा और कौन भोगेगा! खैर, आगे के लिये किसी

मुहर्रमी को अभी से चुन रखिए, जो चित्त-विनोद न कर चित्त को चोट पहुँचाकर लोट-पोट कर दे।

बिहार की वर्तमान अवस्था अवलोकन कर जो अतीत का अनुमान करते हैं, वे बेतरह भूलते हैं। बिहार का प्राचीन गौरव सोने के अक्षरों में लिखने-योग्य है। विदेह जनक का ब्रह्म-ज्ञान, गौतमबुद्ध का निर्वाण, पाणिनि का व्याकरण, अशोक का धर्माचरण, कपिल का सांख्य, गौतम का न्याय, वाचस्पति मिश्र का षडदर्शनों पर भाष्य, मंडन मिश्र का शंकराचार्य से शास्त्रार्थ और चाणक्य की नीति इसका पुष्ट प्रमाण है। इसके बाद प्राकृत-भाषा की भी खासी उन्नति हुई। मागधी की महिमा कौन नहीं जानता! पर मेरा संबंध तो हिंदी से है। इसलिये अब देखना यह है कि बिहार ने हिंदी के लिये क्या किया। जहाँ तक मैंने देखा, उससे तो निराश होने का कोई कारण नहीं देखता। हमारा बिहार-प्रदेश हिंदी-सेवा में किसी प्रदेश से किसी प्रकार कम नहीं है। यदि युक्तप्रांत को अपने लल्लूलाल का अभिमान है, तो बिहार को भी अपने सदलमिश्र का गर्व है। सदलमिश्र कविवर लल्लूलाल के समकालिक और आरे के रहनेवाले थे। लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' लिख जिन दिनों वर्तमान हिंदी की नींव डाली थी, उन्हीं दिनों हमारे सदलमिश्र ने भी 'चंद्रावली' लिखकर बिहार का गौरव ... था। अभी तक इसके पढ़ने का सौभाग्य मुझे प्राप्त न हो सका, पर सुना है कि पुस्तक अच्छी और काम

भी साफ़ है। इसके बाद भी हम देखते हैं कि बिहार हिंदी-सेवा से वंचित नहीं है। यहाँ के जमींदार और रईसों ने समय-समय पर बिहार के गौरव बढ़ाने का उद्योग किया है। सबसे पहले डुमराँव के श्रीयुत महाराजकुमार शिवप्रकाशसिंहजी

भी साफ़ है। इसके बाद भी हम देखते हैं कि बिहार हिंदी-सेवा से वंचित नहीं है। यहाँ के जमींदार और रईसों ने समय-समय पर बिहार के गौरव बढ़ाने का उद्योग किया है। सबसे पहले डुमराँव के श्रीयुत महाराजकुमार शिवप्रकाशसिंहजी का शुभ नाम याद आता है। इन्होंने तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' पर 'रामतत्त्वबोधिनी' नाम की टीका लिखी है। इसके सिवा 'सत्संगविलास', 'लीलारसतरंगिणी', 'भागवततत्त्वभास्कर', 'उपदेशप्रवाह' और 'वेदस्तुति' की टीका इनकी रचनाएँ हैं।

तारणपुर-निवासी बाबू हितनारायणसिंहजी की मृत्यु सं० १८६६ ई० में हुई। यह बड़े स्वदेश-प्रेमी थे। कविता भी करते थे। यह स्वदेशी वस्तु का व्यवहार अच्छा समझते थे। आपका उपदेश है—

"बनी यहाँ की वस्तु जो, ताकर करु सन्मान ;
अपर देश की वस्तु तें, होत यहाँ अति हान।
कृषी-कर्म, वाणिज्य पुनि, शिल्प अधिक उर आन ;
महराटिन की रीति पर, सकल होहु मतिमान।"

इत्यादि।

ब्राह्मण-क्षत्रियों की बात जाने दीजिए। बिहार के शूद्र भी सरस्वती माता की सेवा करते थे। छपरे के ठाकुर कवि इसके प्रमाण हैं। यह मधेसिया कोंदू थे। यह पढ़े-लिखे में साधारण ही थे, पर सत्संगी होने के कारण कविता अच्छी

"मन मरन समय जब आवेगा, ईसू पार लगावेगा।"

विहार के पं० केशवराम भट्ट हिंदी के अच्छे विद्वान् हो गए हैं। इन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'हिंदी-व्याकरण' सबसे मुख्य है। वाजपेयीजी की हिंदी-कौमुदी को छोड़ इससे अच्छा दूसरा व्याकरण देखने में न आया। इनकी भाषा शुद्ध एवं सरस होती थी। यह 'विहार-बंधु' पत्र और प्रेस के स्वामी थे। विहार में इनसे हिंदी का बड़ा प्रचार और उपकार हुआ है। 'शमशाद-सौसन' और 'सज्जाद सुंबुल' नाम के दो नाटक इन्होंने लिखे हैं।

वर्तमान गिद्धौर-महाराज के पूज्य पितृव्य स्वर्गीय म० कु० बाबू गुरुप्रसाद सिंहजी भी हिंदी के लेखक और कवि थे। 'राजनीति-रत्नमाला', 'भारत-संगीत' और 'चुटकुला' नाम की तीन पुस्तकें इनकी लिखी हैं। चुटकुला फुटकल पद्यों का संग्रह है। गंगाजी के संबंध में इनकी एक कुंडलिया इस प्रकार है—

"गंगाजी की विषमता लखि मो मन हरसात;
स्नातक पठवति स्वर्ग कों, आपु निम्न गति जात।
आप निम्न गति जाति, ताहि गिरि-शिखर पठावैं;
आप मकर आरूढ़, ताहि दै वृषभ चढ़ावैं।
आप सलिल-तनु धारि, ताहि दै दिव्य जु अंगा;
जगत्-ईश करि ताहि, शीश चढ़ि विहरत गंगा।"

मेरे ग्राम मलेपुर के रईस वैकुंठवासी बाबू छत्रधारीसिंहजी

अदालतों में कैथी अक्षर हुए, और आरंभिक शिक्षा की पुस्तकें कैथी में छपने लगीं। बिहार-प्रांत की भोजपुरी, मैथिली आदि बोलियों में पुस्तकें छपवाकर बिहारवासियों में इन्होंने फूट का बीज बो दिया, जिसका फल मैथिल-सभा से हिंदी का बहिष्कृत होना है। हमारे मैथिल भाई भ्रम-वश देश की हानि कर रहे हैं। हमारा सानुरोध निवेदन है कि वे लोग जल्दी न करें। जो कुछ करें, सोच-समझकर करें। धन्यवाद है ओल्डम साहब को, जिनकी कृपा से अदालत के कागज-पत्र कैथी के बदले फिर नागरी में छपने लगे हैं।

## बेली-पोइट्री-प्राइज़-फंड

बंगाल के छोटेलाट बेली साहब की यादगार में खैरे के राजा रामनारायणसिंह का रुपए से मुंगेर का बेली-पोइट्री-प्राइज़-फंड स्थापित हुआ है, जिससे प्रतिवर्ष निर्दिष्ट विषय पर सबसे अच्छी कविता करनेवाले दो विद्यार्थियों को २५ और १०) पुरस्कार में मिलते हैं। सन् १८९६ ई० में इसका प्रथम पुरस्कार पाने की प्रतिष्ठा मुझे भी प्राप्त हुई थी।

## सभा-समितियाँ

सभा-समितियों से भी हमारा बिहार वंचित नहीं है। आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा, लहेरियासराय-हिंदी-सभा और भागलपुर-हिंदी-सभा मंद गति से अपना-अपना कर्तव्य पालन कर रही हैं। भागलपुर की सभा ने गोस्वामी तुलसीदासजी के काव्यों की परीक्षा जारी कर अच्छा काम किया है। इससे तुलसीदास

की कविताओं का प्रचार होगा, लोग उन्हें पढ़ेंगे और पारंगत होंगे। आरे की सभा भी यथासाध्य हिंदी-प्रचार का उद्योग करती है। जरा और उत्साह दिखाया जाय, तो अच्छा हो। दुःख की बात है कि विहार की राजधानी पटने में हिंदी की एक भी शक्तिशालिनी सभा नहीं। क्या पटनेवाले यह अभाव दूर न करेंगे?

## पुस्तकालय

बाँकीपुर की 'खुदाबख्श-लाइब्रेरी'-सा एक भी हिंदी-पुस्तकालय विहार में नहीं। यह विहार के हिंदुओं के लिये विचारने की बात है। आँसू पोंछने के लिये आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा का पुस्तकालय, लहेरियासराय का पुस्तकालय, भागलपुर का पुस्तकालय, बाँकीपुर का चैतन्य-हिंदी-पुस्तकालय, पटने का बराह-मिहिर-पुस्तकालय, और गया का मन्नूलाल-पुस्तकालय अवश्य हैं। सुना है, मुन्नूलाल-पुस्तकालय में प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों और नवीन पुस्तकों का अच्छा संग्रह है।

## छापाखाना

विहार-बंधु-प्रेस और भँगवोधोदय-प्रेस बाँकीपुर में पहले थे। यहीं हिंदी की पुस्तकें छपती थीं। सन् १८८० के आस पास स्वर्गवासी म० कु० बाबू रामदीनसिंहजी ने खड्गविलास प्रेस खोला था, जो प्रतिदिन उन्नति करता जाता है। इससे बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित हुई। क्षत्रिय पत्रिका आदि मासिक पत्रिकाएँ निकलीं, जो अब बंद हैं। साप्ताहिक शिक्षा आजकल निकलती

है। ग्रियरसन साहब की मानस-रामायण पहलेपहल यहीं छपी थी। कहा जाता है, यह तुलसीदासजी की हस्त-लिखित प्रति से मिलाकर छापी गई है। भारतेंदु और प्रतापनारायण मिश्र के ग्रंथों का स्वत्व इसी को प्राप्त है; पर प्रेस के मालिकों की ढील या उदासीनता के कारण इन पुस्तकों का जैसा चाहिए, वैसा प्रचार नहीं हुआ। अब इधर ध्यान देने का समय आ गया है।

भारतेंदु-ग्रंथावली की तरह और ग्रंथकारों के ग्रंथों का शीघ्र ही सस्ता संस्करण हो जाना चाहिए। खड्गविलास-प्रेसवालों को गुजरात की 'सस्तु साहित्य-प्रचारक मंडली' का अनुसरण करना चाहिए। यह मंडली अच्छी-अच्छी पुस्तकें छापकर सस्ते दामों में बेचती है। इससे गुजराती-साहित्य को बहुत लाभ पहुँचा है।

इसके बाद फिर धीरे-धीरे बहुत-से प्रेस खुलते जाते हैं। भागलपुर के विहार-एंजल-प्रेस और मुजफ्फरपुर के रत्नाकर-प्रेस ने हिंदी की कुछ पुस्तकें बड़ी सफ़ाई के साथ छापी हैं। पर हर तरह की छपाई का काम करनेवाले प्रेस की अभी तक कमी है।

## समाचार-पत्र

समाचार-पत्रों की अवस्था संतोष-जनक नहीं। बाँकीपुर से निकलनेवाला विहार का ही क्यों, हिंदी-भाषा का सबसे पुराना पत्र 'विहार-बंधु' बंद हो गया। यह बड़े खेद की बात है। इसके जिलाने का फिर उपाय होना चाहिए। इसी तरह चंपारन

का 'चंपारण-चंद्रिका', छपरे का 'सारण-सरोज' और 'नारद', पटने का 'क्षत्री-हितैषी', 'भारत-रत्न', 'हरिश्चंद्र-कला', 'क्षत्रिय-पत्रिका' और 'हिंदी-बिहारी', भागलपुर का 'पीयूष-प्रवाह', 'श्री-कमला', 'आत्म-विद्या' और 'बंग बिहार', आरा का 'मनोरंजन', मुजफ्फरपुर का 'सत्ययुग', राँची का 'आर्यावर्त्त' और 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', मोतिहारी की 'कुसुमांजलि' आदि पत्र और पत्रिकाएँ एक-एक कर निकलीं, और बंद हो गईं। यह बिहार के लिये बदनामी की बात है।

अब साप्ताहिक पत्रों में 'पाटलिपुत्र', 'तिरहुत-समाचार', 'मिथिला-मिहिर' और 'शिक्षा' हैं। 'सर्च-लाइट' का हिंदी क्रोड़पत्र भी निकलता है; पर इनमें 'पाटलिपुत्र' ने ही हथुआ-महाराज का होकर भी निर्भीकता के साथ राष्ट्र-पक्ष का समर्थन किया, और बिहार को जगाया है। 'शिक्षा' तो विद्यार्थियों को बस शिक्षा ही देती है। 'मिथिला-मिहिर' मेहरबानी कर हिंदी को अंधकार में रख, मैथिली पर ही प्रकाश डालता है।

मासिक पत्रिका में बस 'लक्ष्मी' का नाम लेना अलम् है। बिहार में दैनिक पत्र का अभाव बेतरह खटकता है।

## प्रजा-बंधु

धन्यवाद है पं० जीवानंद शर्मा को, जिन्होंने इस अभाव को दूर करने के लिये 'प्रजा-बंधु' नाम की लिमिटेड कंपनी बनाई है, और उसके चलाने का वह पूरा उद्योग कर रहे हैं। हिंदी-प्रेमी और देशानुरागी-मात्र को इस देश-हित-कार्य में पंडितजी

की पूरी सहायता करनी चाहिए। इससे दैनिक पत्र और अच्छे प्रेस का अभाव मिट जायगा, ऐसी आशा है।

## नाटक-मंडली

साहित्य की उन्नति और प्रचार के लिये नाटक-मंडलियों की भी आवश्यकता होती है। आनंद की बात है कि मुजफ्फरपुर, छपरे और मोतिहारी में नाटक-मंडलियाँ हैं, और शायद भागलपुर में भी है।

## पाठ्य पुस्तकें

सन् १८७५ ई० के बाद बिहार के स्कूलों में हिंदी का प्रवेश हुआ। उस समय युक्तप्रांतवालों की ही बनाई पुस्तकें स्कूलों में पढ़ाई जाती थीं। राजा शिवप्रसाद का 'गुटका' यहाँ भी पढ़ाया जाता था। सन् १८७२ ई० के लगभग फ़ैलन साहब बिहार-प्रांत के स्कूलों के इंस्पेक्टर हुए। इन्होंने बिहार में ही पाठ्य पुस्तकें लिखवाने का प्रथम प्रयत्न किया, और उसमें सफलता भी हुई। इनके बाद स्वर्गवासी भूदेव मुकर्जी इंस्पेक्टर हुए। इनकी सहायता से बहुत-सी नई-नई पुस्तकें लिखी गईं, और प्रकाशित हुईं। फिर तो खड्गविलास-प्रेस से धड़ाधड़ पाठ्य पुस्तकें निकलने लगीं, और निकल रही हैं। इधर मेकमिलन-कंपनी के सिवा ग्रंथमाला-कार्यालय और 'पाटलिपुत्र' के मैनेजर ने भी पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित की हैं। अब तक जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उनमें अधिकांश रद्दी और भद्दी हैं।

बिहार-प्रांत के सहज भाषा-दोष इनमें अधिकता से पाए जाते हैं। इनसे बड़ी हानि होती है। भूल-भरी पुस्तकें पढ़कर लड़कों का भूल करना स्वाभाविक है। पीछे लाख समझाने पर भी वह दोष दूर नहीं होता। एक बार एक लड़के ने लिखा—"मुशला-धार वृष्टि होती थी।" मैंने कहा—"मूसलधार कहो, मुशलाधार नहीं।" उसने कहा मेरी पुस्तक में तो 'मुशलाधार' ही लिखा है। यह कह उसने पुस्तक दिखा दी। उसका कहना ठीक निकला। मैंने लाख समझाया; पर वह छपी पुस्तक के सामने मेरी बात क्यों मानने लगा! ऐसी-ऐसी बहुत-सी भूलें दिखाई जा सकती हैं। इसलिये पुस्तक-प्रकाशकों से मेरा अनुरोध है कि वे चढ़ा-ऊपरी कर शिक्षा का उद्देश्य नष्ट न करें। यदि पाठ्य पुस्तक शुद्ध छपें, तो 'बिहारी हिंदी' का नाम ही न रहे। Baboo's English की बहन 'बिहारी हिंदी' है।

## अदालती भाषा

बिहार की अदालती भाषा और लिपि, दोनो ही विचित्र हैं। अदालत में तो ऐसी भाषा और लिपि बरती जानी चाहिए, जो सर्व-साधारण की समझ में आवे—गँवार-देहाती भी बिना किसी की मदद के समझ लें। पर यहाँ मामला ही दूसरा है। देहातियों की कौन कहे, अदालती कागज़ों के पढ़ने में बड़े-बड़े हाकिमों की भी नानी मर जाती है। अक्षर कैथी, और भाषा फ़ारसी—एक तो गिलोय, दूसरे नीम चढ़ी। फ़ारसी-अक्षर की शिकायत की गरज से मैं यह नहीं कह रहा हूँ, बल्कि इसलिये कह रहा हूँ,

जिसमें अदालती कागज-पत्र समझने में देहात के हिंदू-मुसल-मानों को दूसरे का मुँह न देखना पड़े। अदालत में मुंशी और मौलवी ही नहीं, ग़रीब गँवार भी जाते हैं, जो इस्तग़ासा, दरोगहल्फ़ी, जायदाद मुस्तरका, जरसमन, जायदाद मनकूला और ग़ैरमनकूला का नाम सुनते ही डर जाते हैं। मतलब समझना तो दूर रहा, इन्हें वह अच्छी तरह दुहरा भी नहीं सकते। एक भलेआदमी को मैंने तसफ़ीया को 'तपसिया' कहते सुना है। ग़रीबों का बड़ा उपकार हो, यदि कैथी के बदले नागरी, और फ़ारसी के बदले सीधी-सादी बोली का व्यवहार अदालत में होने लगे।

## अनुकरणीय दान

भागलपुर के श्रीयुत पं० भगवानप्रसादजी चौबे ने एक बहु-मूल्य भवन बनवाकर हिंदी-सभा और पुस्तकालय के लिये हिंदी-माता के नाम पर दान कर दिया है। आशा है, सर्वत्र इसका अनुकरण होगा।

## लेखक और कवि

लेखक और कवियों की संख्या भी उँगलियों पर गिनने के योग्य है। अँगरेजी के विद्वान् तो हिंदी को Stupid समझते, और संस्कृत के पंडित भाखा कहते तथा घृणा करते हैं। फिर लेखक आवें कहाँ से? पर हवा बदली है। श्रीमान् गांधीजी के प्रभाव से हमारे वकील भाइयों का ध्यान हिंदी की ओर झुका

है। आशा है, और लोग भी शीघ्र ही राह पर आवेंगे। यह आनंद की बात है कि अब के दरभंगे की बिहार-प्रांतीय परिषद् में हिंदी को प्रधान स्थान मिला था। इसके लिये प्रशंसा करनी चाहिए परिषद् की अभ्यर्थना-समिति के अध्यक्ष पं० भुवनेश्वर मिश्र की, जिन्होंने अपना भाषण हिंदी में लिखा और पढ़ा था। यदि इसी प्रकार प्रत्येक परिषद् में हिंदी को स्थान मिले, तो देश का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है। बिहारी छात्र-सम्मेलन भी श्रीमान् गांधीजी की आज्ञा का पालन कर हिंदी को ही अपने सम्मेलन में स्थान दिया करे, तो बड़ा उपकार हो। अँगरेजी पढ़ों में बाबू ब्रजकिशोरप्रसाद, राजेंद्रप्रसाद, पाँड़े जगन्नाथप्रसाद, बदरीनाथ वर्मा, गोकुलानंदप्रसाद वर्मा, पं० राधाकृष्ण झा, गिरींद्रमोहन मिश्र, भुवनेश्वरी मिश्र, हरनंदन पाँड़े, लक्ष्मीप्रसाद, ब्रजनंदनसहाय, गयाप्रसादसिंह, कालिकाप्रसाद, सुपार्श्वदास आदि हिंदी-भाषा का आदर करते और उसमें लिखने-पढ़ते हैं। बाबू रघुवीरनारायण भी Golden Ganga के साथ 'सुंदर सुभूमि मैया भारत के देसवा से मोरे प्रान बसे हिम-खोह रे बटोहिया' भी पढ़ रहे हैं। इसी प्रकार संस्कृत के विद्वानों में पं० रामावतार शर्मा, अक्षयवट मिश्र, शिवप्रसाद पाँडेय, जीवानंद शर्मा, सकलनारायण शर्मा हिंदी लिखने और बोलने में अपना गौरव समझते हैं।

बिहार के वर्तमान वयोवृद्ध हिंदी-सुलेखकों और सुकवियों में पं० विजयानंद त्रिपाठी, पं० चंद्रशेखर मिश्र, बाबू शिवनंदन

सहाय और बाबू यशोदानंदन अखौरी आदि विशेष उल्लेख्य हैं। बाबू शिवनंदनसहाय ने भारतेंदु और तुलसीदास के बृहज्जीवन-चरित लिखकर बिहार का गौरव बढ़ा दिया है।

## मुसलमान

बिहार की एक विचित्रता यह भी है कि यहाँ के मुसलमान भी हिंदी से प्रेम रखते और हिंदी लिखते-पढ़ते हैं। इनमें सबसे पहले मिस्टर हसनइमाम का नाम याद आता है। यह हिंदी के हिमायती हैं। बेतिया के पीर मुहम्मद मूनिस और मुजफ्फरपुर के मुहम्मद लतीफ़हुसेन हिंदी के प्रेमी ही नहीं, लेखक भी हैं। मलेपुर के खैरुल्ला मियाँ भी हिंदी में पद्य बनाते और समस्या-पूर्ति करते हैं।

जिन साहित्य-सेवियों के नाम छूट गए हों, उनसे क्षमा चाहता हूँ।

## भाषा-दोष

यह सब होने पर भी लोग बिहारियों पर यह दोष लगाते हैं, और ठीक लगाते हैं कि बिहारवाले हिंदी के लिंग-प्रकरण और 'ने' विभक्ति पर बड़ा अत्याचार करते, और उच्चारण भी ऊट-पटांग करते हैं। पर मेरी समझ से इन दोषों के दोषी प्रायः सभी प्रांतवाले हैं। मैं अपने 'हिंदी-लिंग-विचार'-नामक लेख में यह चुका हूँ कि 'अगर बिहार में 'हाथी बिहार करती हैं', तो पंजाब में 'तारें आती हैं', और युक्तप्रांत के काशी-प्रयाग में

लोग 'अच्छी शिखरें मारकर लंबी सलामें' करते हैं। अगर बिहार में 'दही खड़ी होती है', तो मारवाड़ में 'बुखार चढ़ती और जनेऊ उतरती है'। बिहार में 'हवा चलता है', तो मान्टगामरी में 'नाक फटता' है, और मुरादाबाद में 'गोलमाल मचती' है। अगर पटने में 'बाजार के कड़ले की तड़वाई से पेट में दरद होता है', तो पंजाब में 'मेंह के अंदर बंद बैठना है', और आगरे-जिले में 'धुल पर फरस बिछा उड़ के खेत में बद को मिच खिलाते' हैं। अगर तिरहुत में 'सड़क पर कोरा मारकर घोरा दौराया जाता है', तो बीकानेर में 'अपने मनबल से चोर को कपड़ते हैं'। फिर बिहार ही क्यों बदनाम है !

विहार में 'आप कहे' प्रयोग होता है, तो पंजाब में 'आपने कहा हुआ', याने बिहार में 'ने' की न्यूनता है, तो पंजाब में प्रचुरता। बिहार में 'र' का 'ड़' और 'ड़' का 'र' हो जाता है, तो व्रजभाषा में 'र' का बिलकुल लोप। इसलिये बिहारियों को संतोष करना चाहिए। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि मैं इन दोषों का समर्थन करता हूँ। ये बड़े भारी दोष हैं। इनसे जितनी जल्दी आप मुक्त हो जायँ, उतना ही अच्छा। तनिक ध्यान देने से ही आप शुद्ध प्रयोग कर सकते हैं। जो इस बात का ध्यान रखते हैं, उनसे ऐसी भूल बहुत कम होती है।

भाइयो, बिहार ने हिंदी-भाषा के लिये क्या किया और क्या रहा है, यही अब तक मैंने दिखाया है, हिंदी-साहित्य के .बंध में अभी तक कुछ नहीं कहा, और न कहने की आवश्य-

चुका ही है; क्योंकि हिंदी-साहित्य का महत्त्व अब सब लोग जान चुके हैं, और हिंदी को राष्ट्रभाषा भी मान चुके हैं। अब फिर पिसे को पीसने की क्या जरूरत? हाँ, इतना अवश्य कहूँगा, कहूँगा क्या 'सिंहावलोकन'-नामक पुस्तिका में कह चुका हूँ कि "ईर्षा, द्वेष, हठ, दुराग्रह और पक्षपात के कारण लोग अपनी-अपनी खिचड़ी पका रहे हैं। कोई तीर घाट जाता है, तो कोई मीर घाट। कोई व्याकरण का बहिष्कार करता है, तो कोई कोष का काया-कल्प। कोई हिंदी की चिंदी निकालता है, तो कोई काव्य-कलेवर को कलुषित करता है। कोई वर्ण-विन्यास का विपर्यय करता है, तो कोई शैली का सत्यानाश। उल्टा करने में भी उलट-पलट का चर्खा चलता है। बँगला की बू, मराठी की महँक और गुजराती की गंध से हिंदी का होश-हवास गुम है। अँगरेजी की आँधी ने तो और भी आफत ढाई है। मुहाविरों का मुँह इस तरह मूँदा जाता है कि उन्हें मुँह दिखाने का मौका नहीं। नाटक का फाटक बंद है, पर उपन्यास का उपद्रव बढ़ रहा है। कोई हिंदी में चिंदी लगाता है, तो कोई विभक्ति का विच्छेद करता है। कोई खड़ी बोली खड़ी करता है, और कोई ब्रजभाषा का नामोनिशान मिटाने का सामान जी-जान से करता है। कोई संस्कृत के शब्दों की सरिता बहाता है, और कोई ठेठ हिंदी का ठाट बनाता है। मतलब यह कि सभी अपनी-अपनी धुन में लगे हैं। कोई किसी की नहीं सुनता। नाई की बारात में सभी ठाकुर हो रहे हैं।"

ऐसी अवस्था में कहिए, मैं किसे लूँ, और किसे छोड़ूँ! सभी आवश्यक विषय हैं, और सब पर बहुत-कुछ कहा-सुना जा सकता है। पर समय स्वल्प, और बातें बहुत हैं। इसलिये इन विषयों को पढ़ने में होनेवाले सम्मेलन के लिये रख छोड़ता हूँ।

एक बात और निवेदन कर मैं अपना भाषण समाप्त करूँगा।

बिहार मेरी पितृभूमि नहीं, मातृभूमि है; जन्मभूमि नहीं, कर्म-भूमि है। इसके अन्न, जल और वायु से मेरा यह नश्वर शरीर शोभायमान है। यहीं मेरी शिक्षा-दीक्षा-परीक्षा हुई है। इसलिये मैं बिहारी न होकर भी बिहारी हूँ, और इसके द्वार का भिखारी हूँ। यह मेरी जननी की जन्मभूमि है, इसलिये इसकी सेवा करना अपना कर्म और धर्म समझता हूँ। आज आप मुझे सभापति-रूप से नहीं, सभासद्-रूप से बुलाते, तो मुझे अधिक आनंद होता। आपने आज मेरा जो कुछ सम्मान और स्वागत किया है, वह मेरा नहीं, सरस्वती-सेवक का किया है। जो हो, आपकी कृपा और दया के लिये आपको बारंबार धन्यवाद देता हूँ, और हृदय से कृतज्ञता-प्रकाश करता हूँ। परमात्मा से प्रार्थना है कि आप सदैव सरस्वती-सेवकों और साहित्यसेवियों का सम्मान और स्वागत किया करें।

प्यारे नवयुवको, कुछ तुमसे भी हृदय की बातें कहनी हैं। मुझे तुम्हारा ही भरोसा है, और तुमसे ही मेरी आशा है। अब बिहारभूमि की, भारतभूमि और मातृभाषा राष्ट्रभाषा हिंदी की लज्जा तुम्हारे हाथ है। तुम चाहो, तो शीघ्र इसका दुःख दूर

हो सकता है। देखो, कैसी करुणा-भरी दृष्टि से माता तुम्हारी ओर देख रही है। क्या इसकी सहायता न करोगे? इसी तरह दीन-हीन, तन-क्षीण एवं मन-मलीन रहने दोगे? इसे सुखी करना क्या तुम्हारा धर्म नहीं है? तुम क्या अपने धर्म और कर्तव्य का पालन न करोगे? नहीं। ऐसा मत करो। उठो, कमर कसो, माता के उद्धार का बीड़ा उठाओ। तन-मन-धन-जन से माता की सेवा करो। अगर उसकी सेवा में प्राण भी जायँ, तो उसकी परवा न करो। याद रक्खो, तुम किसी से किसी बात में कमजोर नहीं हो। लेकिन न-जाने क्यों तुम अपने को कमजोर समझ रहे हो। यह तुम्हारी भूल है। सिंह होकर शृगाल मत बनो। देखो, सिंह को जंगल का राजा किसने बनाया? उसके लिये कभी दरबार नहीं हुआ; पर वह मृगराज कहलाता है। सिंह अपने बाहुबल से मृगेंद्र बना है। इसी तरह तुम भी अपने बाहुबल से माता के सच्चे सुपूत बनो, और माता का भाषा-भंडार ज्ञान-विज्ञान से भरो। क्या करना है, उसे भी सुन रक्खो—

(१) तुमने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है या करोगे, उसे मातृभाषा द्वारा अपने देशवासियों को बाँट दो। जहाँ जो अच्छी बातें मिलें, उन्हें अपनी भाषा में ले आओ। जापानी लोग अँगरेज़ी पढ़ते हैं, और उसमें जो कुछ काम की चीज पाते हैं, उसे जापानी भाषा में उल्था कर लेते हैं। इससे जापानी साहित्य दिन-दिन उन्नति करता जाता है। बंगाली, गुजराती और

ऐसी अवस्था में कहिए, मैं किसे लूँ, और किसे छोड़ूँ ! सभी आवश्यक विषय हैं, और सब पर बहुत-कुछ कहा-सुना जा सकता है। पर समय स्वल्प, और बातें बहुत हैं। इसलिये इन विषयों को पटने में होनेवाले सम्मेलन के लिये रख छोड़ता हूँ। एक बात और निवेदन कर मैं अपना भाषण समाप्त करूँगा।

बिहार मेरी पितृभूमि नहीं, मातृभूमि है; जन्मभूमि नहीं, कर्म-भूमि है। इसके अन्न, जल और वायु से मेरा यह नश्वर शरीर शोभायमान है। यहीं मेरी शिक्षा-दीक्षा-परीक्षा हुई है। इसलिये मैं बिहारी न होकर भी बिहारी हूँ, और इसके द्वार का भिखारी हूँ। यह मेरी जननी की जन्मभूमि है, इसलिये इसकी सेवा करना अपना कर्म और धर्म समझता हूँ। आज आप मुझे सभापति-रूप से नहीं, सभासद्-रूप से बुलाते, तो मुझे अधिक आनंद होता। आपने आज मेरा जो कुछ सम्मान और स्वागत किया है, वह मेरा नहीं, सरस्वती-सेवक का किया है। जो हो, आपकी कृपा और दया के लिये आपको बारंबार धन्यवाद देता हूँ, और हृदय से कृतज्ञता-प्रकाश करता हूँ। परमात्मा से प्रार्थना है कि आप सदैव सरस्वती-सेवकों और साहित्यसेवियों का सम्मान और स्वागत किया करें।

प्यारे नवयुवको, कुछ तुमसे भी हृदय की बातें कहनी हैं। मुझे तुम्हारा ही भरोसा है, और तुमसे ही मेरी अपील है। अब बिहारभूमि की, भारतभूमि और मातृभाषा राष्ट्रभाषा हिंदी की लज्जा तुम्हारे हाथ है। तुम चाहो, तो शीघ्र [illegible] दुःख दूर

हो सकता है। देखो, कैसी करुणा-भरी दृष्टि से माता तुम्हारी ओर देख रही है! क्या इसकी सहायता न करोगे? इसी तरह दीन-हीन, तन-क्षीण एवं मन-मलीन रहने दोगे? इसे सुखी करना क्या तुम्हारा धर्म नहीं है? तुम क्या अपने धर्म और कर्तव्य का पालन न करोगे? नहीं। ऐसा मत करो। उठो, कमर कसो, माता के उद्धार का बीड़ा उठाओ। तन-मन-धन-जन से माता की सेवा करो। अगर उसकी सेवा में प्राण भी जायँ, तो उसकी परवा न करो। याद रक्खो, तुम किसी से किसी बात में कमज़ोर नहीं हो। लेकिन न-जाने क्यों तुम अपने को कमज़ोर समझ रहे हो। यह तुम्हारी भूल है। सिंह होकर शृगाल मत बनो। देखो, सिंह को जंगल का राजा किसने बनाया! उसके लिये कभी दरबार नहीं हुआ; पर वह मृगराज कहलाता है। सिंह अपने बाहुबल से मृगेंद्र बना है। इसी तरह तुम भी अपने बाहुबल से माता के सच्चे सुपूत बनो, और माता का भाषा-भंडार ज्ञान-विज्ञान से भरो। क्या करना है, उसे भी सुन रक्खो—

(१) तुमने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है या करोगे, उसे मातृभाषा द्वारा अपने देशवासियों को बाँट दो। जहाँ जो अच्छी बातें मिलें, उन्हें अपनी भाषा में ले आओ। जापानी लोग अँगरेज़ी पढ़ते हैं, और उसमें जो कुछ काम की चीज़ पाते हैं, उसे जापानी भाषा में उल्था कर लेते हैं। इससे जापानी साहित्य दिन-दिन उन्नति करता जाता है। बँगाली, गुजराती और

(५) हिंदी लिखने, पढ़ने और बोलने का अभ्यास सबको कर लेना चाहिए, जिसमें सुधार-संबंधी सब बातें अँगरेजी न जाननेवाले अपने भाइयों को अच्छी तरह समझा सको। देश-हित के विचार से भी हिंदी का प्रचार करना आवश्यक है।

(६) अदालत में नागरी-अक्षरों और हिंदी-भाषा को जारी कराओ।

(७) जमीदारी-कागज-पत्र कैथी अक्षरों के बदले नागरी-अक्षरों में लिखवाओ। कैथी अक्षरों के पढ़ने में बड़ी तकलीफ होती है, और अक्सर अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

(८) प्रांतीय परिषदों और छात्र-सम्मेलनों में देशी भाषा का व्यवहार कराना भी आप ही लोगों का काम है।

(९) हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं में स्वयं सम्मिलित हो, और दूसरों को उत्साहित कर सम्मिलित कराओ। संस्कृत की परीक्षाओं में हिंदी नहीं पढ़ाई जाती। इसलिये संस्कृत के पंडित हिंदी से कोरे रह जाते हैं। इसलिये संस्कृत-परीक्षाओं में हिंदी को प्रविष्ट कराना चाहिए।

यह सब कोई असंभव काम नहीं। यदि हो भी, तो पुरुषार्थ से उन्हें संभव बना सकते हो। जिस देश के साहित्य में अर्जुन के 'पाशुपत' अस्त्र प्राप्त करने का वर्णन है, जिस देश के साहित्य में प्रह्लाद के सामने खंभे से नृसिंह भगवान् का आविर्भूत होना लिखा है, जिस देश के साहित्य में हनुमानजी के समुद्र लाँघ जाने की कथा है, उस देश के निवासियों के

मरहटों ने भी यही करके अपने साहित्य की श्रीवृद्धि की है और कर रहे हैं। तुम भी वही करो।

(२) हिंदी-भाषा के प्रचार के लिये स्थान-स्थान पर पुस्तकालय और वाचनालय खुलवाओ। विहार में इसका बड़ा अभाव है।

(३) जिस तरह कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने बँगला, हिंदी आदि देशी भाषाओं में एम्० ए०-परीक्षा का प्रबंध किया है, उसी प्रकार पटना-विश्वविद्यालय में हिंदी को स्थान दिलाओ। कलकत्ता-विश्वविद्यालय के भूतपूर्व वाइस-चांसलर कलकत्ता-हाईकोर्ट के जज सर आशुतोष मुकर्जी, सरस्वती, भी चाहते हैं कि भारत की सब युनिवर्सिटियों में एम्० ए० की परीक्षा देशी भाषाओं में हो। हवड़ा-साहित्य-सम्मेलन के सभापति होकर आपने अपने भाषण में कहा था—"बंबई, मद्रास, पंजाब, इलाहाबाद प्रभृति स्थानों के विश्वविद्यालयों को देशी भाषा में एम्० ए० की परीक्षा चलानी होगी। केवल बंगाल में चलाने से Reciprocal पारस्परिक फल की संभावना बहुत थोड़ी है।" इसलिये पूरा प्रयत्न करो, जिसमें पटना-विश्वविद्यालय की एम्० ए०-परीक्षा में हिंदी को स्थान मिले। इसके लिये उद्योग करना आवश्यक है।

(४) चौथा काम अनिवार्य शुल्क-रहित प्रारंभिक शिक्षा-बिल को कार्य में परिणत करना है। इसके लिये पाठशाला स्थापित करना और नागरी-अक्षरों में पुस्तकें छपवानी चाहिए।

(५) हिंदी लिखने, पढ़ने और बोलने का अभ्यास सबको कर लेना चाहिए, जिसमें सुधार-संबंधी सब बातें अँगरेज़ी न जाननेवाले अपने भाइयों को अच्छी तरह समझा सको। देश-हित के विचार से भी हिंदी का प्रचार करना आवश्यक है।

(६) अदालत में नागरी-अक्षरों और हिंदी-भाषा को जारी कराओ।

(७) ज़मींदारी-कागज़-पत्र कैथी अक्षरों के बदले नागरी-अक्षरों में लिखवाओ। कैथी अक्षरों के पढ़ने में बड़ी तकलीफ़ होती है, और अक्सर अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

(८) प्रांतीय परिषदों और छात्र-सम्मेलनों में देशी भाषा का व्यवहार कराना भी आप ही लोगों का काम है।

(९) हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं में स्वयं सम्मिलित हो, और दूसरों को उत्साहित कर सम्मिलित कराओ। संस्कृत की परीक्षाओं में हिंदी नहीं पढ़ाई जाती। इसलिये संस्कृत के पंडित हिंदी से कोरे रह जाते हैं। इसलिये संस्कृत-परीक्षाओं में हिंदी को प्रविष्ट कराना चाहिए।

यह सब कोई असंभव काम नहीं। यदि हो भी, तो पुरुषार्थ से उन्हें संभव बना सकते हो। जिस देश के साहित्य में अर्जुन के 'पाशुपत' अस्त्र प्राप्त करने का वर्णन है, जिस देश के साहित्य में प्रह्लाद के सामने खंभे से नृसिंह भगवान् का आविर्भूत होना लिखा है, जिस देश के साहित्य में हनुमानजी के समुद्र लाँघ जाने की कथा है, उस देश के निवासियों के

लिये असंभव या असाध्य कुछ नहीं। इसलिये उत्साह के सा
उठो, और हिंदीमाता का हित-साधन करो। आओ, आज मात
के सामने हम लोग प्रतिज्ञा करें—

भए उपस्थित आज यहाँ पै जो सब भाई;
करें प्रतिज्ञा अटल, यही निज भुजा उठाई।
हिंदी म हम लिखें-पढ़ें, हिंदी ही बोलें;
नगर-नगर में हिंदी के विद्यालय खोलें।
हिंदी के हित-साधन में नित ही चित दैहैं;
अँगरेजी को भूलि सदा हिंदी गुन गैहैं।
यह पन पूरो करे सदा माधव मंगलमय;
हमहुँ कहें हिंदी, जय हिंदी, जय हिंदी जय।

---

# अभिभाषण*

"पदानां संधि-पर्वाणं स्वरव्यंजनभूषितम्;
यमाहुरक्षरं विप्रास्तस्मै वागात्मने नमः।"

---

जन्मभूमि, जननी, जनक, जन्हुसुता, जगनाथ;
दुर्लभ पंच जकार हैं, इनहिं नवाओ माथ।

---

जो कुंदेंदु-तुषार-हार सम सुंदर सोहति;
धवल कमल-आसीन सदा सुरगन मन मोहति।
सादर सीस झुकाय सारदा सुमिरौं सोई;
विमल विवेक-विचार-बुद्धि जाके बल होई।
बीना-पानी बानि करौ बानी कल्यानी;
ललित मनोरम भाव-भरी औ नव-रस सानी।
हिंदी हिंदहिं धारि हिये के ऊँचे आसन;
करि प्रनाम प्रारंभ करौं अपनो अभिभाषन।

स्वागतसमिति के आदरणीय अध्यक्ष, सहृदय सभासदो, प्रेमी प्रतिनिधियो, भाइयो और बहनो,—

---

* द्वादश हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, लाहौर के सभापति की हैसियत से दिया गया भाषण (ज्येष्ठ-शुक्ल १, शनि, संवत् १९७८)।

पाँच पानी से पखारे हुए पंजाब के प्रधान नगर लवपुर
हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का समारोह वसंत-ऋतु के समय बाल
में सोने में सुगंध ही नहीं, चंदन में फूल और ईख में फल
समान होता, शीतल-सुगंध-सुखद समीर सदानंद संदोह
संचार कर मनोमुकुल को प्रफुल्ल कर देता तथा सभी सहृ
और पुलकित हो साहित्य-चर्चा करते ; पर इस समय तो—

"तपत प्रचंड मारतंड महि-मंडल में
ग्रीषम की तीखन तपन आर-पार है ;
'गिरिधर' कहै काँच काँच-सो बहन लाग्यो,
नद-नदी-नीर मानो अदहन-धार है ।
झपट चहूँदिन तें लपट लपेटी लूह,
सेस-कैसी फूँक पौन सूखन की झार है ;
तावा-सी अटारी तरी, आवा-सी अवनि महा,
दावा-सै महल औ पजावा से पहार है ।"

फिर साहित्य-संलाप में मन कैसे संलग्न रह सकता है ! पर
एक बात संतोष की है । कविवर बिहारीलाल ने कहा है—

"कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ ;
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ ।"

अर्थात् इस भीष्म ग्रीष्म ने संसार को तपोवन बना डाला है ।
में भेद-भाव नहीं रहता । इसी से साँप और मोर, हरिन
अपनी शत्रुता भूलकर गर्मी से बेचैन हो एक
बैठे हैं । धन्यवाद है इस भीष्म को, जिसकी कृपा से

आज यहाँ भी सब मनवाले एकमत हो मातृभाषा की सेवा-शुश्रूषा के लिये एकत्र हो गए हैं। वासंती वायु में यह बात कहाँ थी? परमात्मा से प्रार्थना है कि तपन-दमन के साथ सदा ग्रीष्म ही रहे, जिससे हम लोग भेद-भाव भूलकर देश-जाति का कल्याण करें, और कभी अलग न हों।

इसमें संदेह नहीं कि स्वागतसमिति ने श्रीयुत लाला हंसराजजी के रहते क्षार को छोड़ नीर ग्रहण कर लिया है। न्यायशास्त्री पं० गिरिवर शर्मा ने ऐसा अन्याय क्यों होने दिया? क्या हरि और हर, दोनो ही अपना स्वरूप भूल गए? गोकुलचंदजी से कुछ न कहूँगा; क्योंकि वह नारंग हैं; पर टेकचंदजी तो अपनी टेक रखते। कंटूनमेंट में रहनेवाले मूलचंदजी भले ही मारशल लॉ जारी कर दें; पर देवर्षि-रत्न रामजी से ऐसी आशा न थी।

समझ की भूल Error of judgement से जब जलियाँवाले बाग की लीला तक हो सकती है, तो 'दारुभूत' जगन्नाथ को सम्मेलन का सभापति बना देना कौन बड़ी बात है? कहनेवाले ने ठीक ही कहा है—

> "काचं मणिं कांचनमेक सूत्रे मूढा निबध्नंति किमत्र चित्रम्;
> विशेषवित् पाणिनिरेक सूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह।"

जब पंडिताग्रगण्य पाणिनि ने ही इंद्र, युवक और कुत्ते को एक सूत्र में बाँधा है, तब आप लोगों ने भी मुझे विबुधवरों के बीच बिठा दिया, तो कोई विचित्र बात नहीं। पर मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि

"शुभरां हूँ हुनर से मैं, सरापा ऐब हूँ अकबर;
इनायत है अहिब्बा की अगर अच्छा समझते हैं।"

अतएव इस अपार अनुग्रह के लिये कृतज्ञता-प्रकाश कर आप लोगों की आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ।

जिन भारत-भक्त, हिंदी-हितैषी वीर-पुंगव लाला लाजपतरायजी ने गत वर्ष कलकत्ते में सम्मेलन के निमंत्रण का समर्थन किया था, वह कारागार-प्रवास कर रहे हैं। भारत में नवजीवन का संचार करनेवाले 'हिंदी-नवजीवन'-संपादक महात्मा गांधी कृष्ण-जन्म-स्थान को प्रस्थान कर चुके हैं। इन दोनो महापुरुषों की अनुपस्थिति अत्यंत असह्य हो रही है। सम्मेलन के प्राण श्रीयुत पुरुषोत्तमदासजी टंडन, अध्यापक रामदासजी गौड़, 'पथिक' प्रणेता पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० कृष्णकांत मालवीय प्रभृति साहित्यिक सुहृद भी बंदीगृह में वास कर रहे हैं। इनका यहाँ न होना बेतरह खटकता है। वे यहाँ नहीं हैं; परंतु उनकी सहानुभूति सम्मेलन के साथ अवश्य है। अतएव यहीं से मैं उनका अभिनंदन करता हूँ।

सज्जनो,

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः;
यत्क्रौंच मिथुना देकमवधीः काममोहितन्।"

से लेकर—

"एक साहब कह रहे थे चीख-चीख यूँ
बोल गई माइ लार्ड कुकडूँ कूँ।"

तक साहित्य में कैसे-कैसे उत्थान-पतन, संशोधन-परिवर्तन, परिवर्द्धन, संस्थापन, उन्नति-अवनति, प्रवृत्ति-निवृत्ति वृद्धि, ह्रास, विकास आदि हुए, इसको विस्तार-पूर्वक वर्णन करने के लिये समय और साधन सापेक्ष है। यहाँ न आपके पास इतना समय है, और न मेरे पास। इसके सिवा इन विषयों पर बहुत-कुछ कहा-सुना जा चुका है। अब पिसे को पीसना अनुचित प्रतीत होता है।

भारत के भाल की बिंदी इस हिंदी-भाषा की उत्पत्ति, व्युत्पत्ति, नामकरण तथा निरूपण आदि भी पूर्व सभापतियों के द्वारा गंभीर गवेषणा-सहित हो चुका है। इसलिये वर्तमान हिंदी-साहित्य की सम्यक् समालोचना ही साहित्य-सेवियों के समक्ष समुचित होगी।

## पंजाब

महाशयो, इस पंचनद-प्रदेश के प्राचीन प्रबल प्रताप, प्रगल्भ पांडित्य और विश्व-विदित वेद-ज्ञान की विषद् व्याख्या व्यर्थ है; क्योंकि महामहिम महर्षियों का वेदों द्वारा तत्त्वों का उद्घाटन, सिख-संप्रदाय द्वारा शत्रुओं का उत्पाटन, आर्य-सभ्यता का भारत में विस्तरण, पंजाब-केसरी राजा रणजीतसिंह का सिख-साम्राज्य-संस्थापन, भारत-भूमि के भाग्य का बारंबार निर्धारण, गुरु नानक का अवतार, गुरु गोविंदसिंह की नई शक्ति का संचार आदि इनका पुष्ट प्रमाण है। इसमें संदेह नहीं कि इस पंचनद-प्रदेश के प्रभाव से ही आज भी भारतवर्ष का उत्कर्ष है, और भारतवासी सगर्व सदा सिर उठाए रहते हैं।

"मुअर्रा हूँ हुनर से मैं, सरापा ऐब हूँ अकबर;
इनायत है अहिब्बा की अगर अच्छा समझते हैं।"

अतएव इस अपार अनुग्रह के लिये कृतज्ञता-प्रकाश कर अ
लोगों की आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ।

जिन भारत-भक्त, हिंदी-हितैषी वीर-पुंगव लाला लाजपतराय
ने गत वर्ष कलकत्ते में सम्मेलन के निमंत्रण का समर्थन किया था
वह कारागार-प्रवास कर रहे हैं। भारत में नवजीवन का संचा
करनेवाले 'हिंदी-नवजीवन'-संपादक महात्मा गांधी कृष्ण
जन्म-स्थान को प्रस्थान कर चुके हैं। इन दोनो महापुरुषों की
अनुपस्थिति अत्यंत असह्य हो रही है। सम्मेलन के प्राण श्रीयु
पुरुषोत्तमदासजी टंडन, अध्यापक रामदासजी गौड़, 'पथिक'
प्रणेता पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० कृष्णकांत मालवीय प्रभृति
साहित्यिक सुहृद भी बंदीगृह में वास कर रहे हैं। इनका यहाँ
न होना बेतरह खटकता है। वे यहाँ नहीं हैं; परंतु उनकी
सहानुभूति सम्मेलन के साथ अवश्य है। अतएव यहीं से मैं
उनका अभिनंदन करता हूँ।

सज्जनो,

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: समा:;
यत्क्रौंच मिथुना देकमवधी: काममोहितम्।"

से लेकर—

"एक साहब कह रहे थे चीख-चीख के
[illegible]"

तक साहित्य में कैसे-कैसे उत्थान-पतन, संशोधन-परिवर्तन, परिवर्द्धन, संस्थापन, उन्नति-अवनति, प्रवृत्ति-निवृत्ति वृद्धि, ह्रास, विकास आदि हुए, इसको विस्तार-पूर्वक वर्णन करने के लिये समय और साधन सापेक्ष है। यहाँ न आपके पास इतना समय है, और न मेरे पास। इसके सिवा इन विषयों पर बहुत-कुछ कहा-सुना जा चुका है। अब पिसे को पीसना अनुचित प्रतीत होता है।

भारत के भाल की बिंदी इस हिंदी-भाषा की उत्पत्ति, व्युत्पत्ति, नामकरण तथा निरूपण आदि भी पूर्व सभापतियों के द्वारा गंभीर गवेषणा-सहित हो चुका है। इसलिये वर्तमान हिंदी-साहित्य की सम्यक् समालोचना ही साहित्य-सेवियों के समक्ष समुचित होगी।

## पंजाब

महाशयो, इस पंचनद-प्रदेश के प्राचीन प्रबल प्रताप, प्रगल्भ पांडित्य और विश्व-विदित वेद-ज्ञान की विशद व्याख्या व्यर्थ है; क्योंकि महामहिम महर्षियों का वेदों द्वारा तत्त्वों का उद्घाटन, सिख-संप्रदाय द्वारा शत्रुओं का उत्पाटन, आर्य-सभ्यता का भारत में विस्तरण, पंजाब-केसरी राजा रणजीतसिंह का सिख-साम्राज्य-संस्थापन, भारत-भूमि के भाग्य का बारंबार निर्धारण, गुरु नानक का अवतार, गुरु गोविंदसिंह की नई शक्ति का संचार आदि इनका पुष्ट प्रमाण है। इसमें संदेह नहीं कि इस पंचनद-प्रदेश के प्रभाव से ही आज भी भारतवर्ष का उत्कर्ष है, और भारतवासी सगर्व सदा सिर उठाए रहते हैं।

किंतु आजकल यहाँ हिंदी का प्रचुर प्रचार न देखकर लोग कहने लगे हैं कि पंजाब हिंदी-सेवा से पराङ्मुख है। आधुनिक अवस्था आक्षेप के योग्य हो सकती है; परंतु पंजाब की पूर्व-परिस्थिति ऐसी न थी। भला जो प्राचीन आर्य-सभ्यता का जन्म-स्थान और वेद-ज्ञान का उद्गम-स्थान है, जिसे सिखों के आदि-गुरु महात्मा गुरु नानक की जन्मभूमि होने का गौरव है, जो भारत का मुख उज्ज्वल करनेवाले गुरु गोविंदसिंह आदि सिखाचार्यों की कर्मभूमि है, और जहाँ सिख-साम्राज्य संस्थापित हुआ, वहाँ राष्ट्रभाषा हिंदी की सेवा न हो, ऐसा कदापि संभव नहीं; क्योंकि राष्ट्रीयता और साहित्य का अन्योन्याश्रय शाश्वत संबंध है। साहित्य का उत्थान-पतन राष्ट्र के उत्थान-पतन से संबद्ध है। साहित्य की श्रीवृद्धि होने से राष्ट्र की भी श्रीवृद्धि होती है। एक के बिना दूसरा अग्रसर नहीं हो सकता। यह बात हमारे सिख-गुरु भली भाँति जानते थे। इसी से उन्होंने राष्ट्रभाषा हिंदी का हाथ पकड़ा, और साथ दिया। प्रायः सभी सिख-गुरु हिंदी के कवि थे, और अच्छी कविता करते थे। सिखों की 'वाणी' इसका प्रमाण है। बाबा नानक का उपदेश अब भी कानों में गूँज रहा है। भाषा कैसी साफ़ और भाव कैसा ऊँचा है। देखिए—

दोहा—

"नानक नन्हे हो रहो, जैसी नन्ही दूब;
और घास जरि जाति है, दूब खूब की खूब।"

और घास तो लंबी और बड़ी होने पर भी धूप से

है; पर दूब पैरों के तले रौंदी ज़ाती, काटी जाती, छाँटी जाती है, तो भी वह सदा बनी रहती है। सहनशीलता का कैसा अच्छा फल दिखाया है। और सुनिए—

"जागो रे जिन जागना, अब जागन की बारि;
फेर कि जागो नानका, जब सोवउ पाँव पसारि।"

गुरुजी कहते हैं, जिन्हें जागना है, जागें। यही समय जागने का है। मर जाने पर क्या जागोगे ! बात भी कुछ ऐसी ही है। फिर कहते हैं—

"मन की मन ही माँहि रही;
ना हरि भजे, न तीरथ सेवे, चोटी काल गही।
दारा, मीत, पूत, रथ, संपति धन-जन-पूर्न मही;
और सकल मिथ्या यह जानो, भजना राम सही।
फिरत-फिरत बहुते जुग हार्‌यो, मानस-देह लही;
नानक कहत मिलन की बिरियाँ सुमिरित कहा नहीं।"

पाँचवें गुरु अर्जुनदेव की भी हिंदी-कविता सुन लीजिए—

"पाँच बरस को अनाथ ध्रू बालक,
हर सिमरत अमर अटारे;
पुत्र हेत नारायन के हो
जम कंकर मार बिदारे।" इत्यादि।

नवें गुरु तेगबहादुर के 'सबद' भी सुनने-योग्य हैं—

"हरि का नाम सदा सुखदाई;
जाको सिमर अजामल उधरियो गनिका हू गति पाई।

पंचाली को राजसभा में राम-नाम सुधि आई;
ताको दुःख हरयो करुनामय अपनी पैज बढ़ाई।
जिह नर जस किरपानिधि गायो ताको भयो सहाई;
कहो नानक मैं इसी भरोसे गही आन सरनाई।"

भारत के गौरव दसवें गुरु गोविंदसिंहजी तो हिंदी के प्रतिभाशाली कवि थे। दुःख है, उनकी समस्त रचनाएँ नहीं मिलतीं। जो कुछ मिली हैं, उन्हीं से संतोष करना पड़ता है। उनकी कविता का भी रसास्वादन कर लीजिए। 'अकाल उस्तति' से एक कवित्त सुनाता हूँ—

"निरगुन निरूप हो, कि सुंदर सुरूप हो,
कि भूपन के भूप हो, कि दाता महादान हो,
प्रान के बचैया, दूध-पूत के दिवैया, रोग-
सोग के मिटैया किधौं मानी महामान हो।
विद्या के विचार हो कि अद्वैत औतार हो,
कि सिद्धता की मूर्त हो कि सुद्धता की सान हो;
जोबन के जाल हो कि कालहू के काल हो,
कि सत्रुन के सूल हो कि मित्रन के प्रान हो।"

गुरुजी ने अपने 'विचित्र नाटक' में खड्ग की क्या अच्छी स्तुति की है कि सुनने के योग्य है—

"खग खंड विहंडं, खलदल खंडं अति रनमंडं बरबंडं।
भुजदंड अखंडं, तेजप्रचंडं जोती-अमंडं भानु प्रभं।

सुख-संतां-करणं, किरविस हरणं दुरमति-दरनं असि सरणम्;
जै-जै जग-कारण, सृष्टि-उवारण मम प्रति पारण जै तेगम्।"

जरासंध के युद्ध का वर्णन भी सुन लीजिए—

"यों सुनिकै बतियाँ तिह की,
हरि कोप कह्यो हम जुद्ध करैंगे;
बान, कमान, गदा गहिकै
दोउ भ्रात सबै अरि सेन हरैंगे।
सूर-सिवादिक ते न भजैं,
हनिहैं तुमको नहिं जूझ परैंगे;
मेरु हलै, सुखिहै निधिवार
तऊ रन को छिति ते न टरैंगे।"

सिख-गुरु ही नहीं, अन्यान्य साधु-सन्यासियों ने भी हिंदी में काव्य-रचना की है। इनमें सबसे पहले गोलोकवासी नारायण स्वामी का नाम स्मरण आता है। स्वामीजी के पदों में कैसा भक्ति-रस, लालित्य और माधुर्य है, यह कहा नहीं जाता। भाषा भी कैसी भव्य है। सुनिए—

"नारायन व्रजभूमि को सुरपति नावैं माथ;
जहाँ आय गोपी बनें श्रीगोपेश्वरनाथ।
श्रीगुरु-चरण-सरोज-रज, बंदौं बारंबार,
नारायन भव-सिंधु-हित जे नौका सुखसार।
जाके मन में बस रही मोहन की मुसिक्यान;
नारायन ताके हिये और न लागत ज्ञान।

पंचाली को राजसभा में राम-नाम सुधि आई;
ताको दुख हरयो करुनामय अपनो पैज बढ़ाई।
जिह नर जस किरपानिधि गायो ताको भयो सहाई;
कहो नानक मैं इसी भरोसे गही आन सरनाई।"

भारत के गौरव दसवें गुरु गोविंदसिंहजी तो हिंदी के प्रतिभाशाली कवि थे। दुःख है, उनकी समस्त रचनाएँ नहीं मिलीं। जो कुछ मिली हैं, उन्हीं से संतोष करना पड़ता है। उनकी कविता का भी रसास्वादन कर लीजिए। 'अकाल उस्तति' से एक कवित्त सुनाता हूँ—

"निरगुन निरूप हो, कि सुंदर सुरूप हो,
कि भूपन के भूप हो, कि दाता महादान हो,
प्रान के बचैया, दूध-पूत के दिवैया, रोग-
सोग के मिटैया किधौं मानी महामान हो।
विद्या के विचार हो कि अद्वैत औतार हो,
कि सिद्धता की सूर्त हो कि सुद्धता की सान हो;
जीवन के जाल हो कि कालहू के काल हो,
कि सत्रुन के साल हो कि मित्रन के प्रान हो।"

गुरुजी ने अपने 'विचित्र नाटक'
स्तुति की है कि सुनने के योग्य

"खग खंड विहंडं,
भुजदंड

सुख-संतां-करणं, किलविख हरणं दुरमति-दरनं असि सरणम्;
जै-जै जग-कारण, सृष्टि-उवारण मम मति पारण जै तेगम्।"

जरासंध के युद्ध का वर्णन भी सुन लीजिए—

"यों सुनिकै बतियाँ तिह की,
हरि कोप कह्यो हम जुद्ध करैंगे;
बान, कमान, गदा गहिकै
दोउ भ्रात सबै अरि सेन हरैंगे।
सूर-सिवादिक ते न भजैं,
हनिहैं तुमको नहिं जूझ परैंगे;
मेरु हलै, सुखिहैं निधिवार
तऊ रन को छिति तै न टरैंगे।"

सिख-गुरु ही नहीं, अन्यान्य साधु-संन्यासियों ने भी हिंदी में काव्य-रचना की है। इनमें सबसे पहले गोलोकवासी नारायण स्वामी का नाम स्मरण आता है। स्वामीजी के पदों में कैसा भक्ति-रस, लालित्य और माधुर्य है, यह कहा नहीं जाता। भाषा भी कैसी भव्य है। सुनिए—

"नारायन ब्रजभूमि को सुरपति नावैं माथ;
जहाँ आय गोपी बने श्रीगोपेश्वरनाथ।
श्रीगुरु-चरण-सरोज-रज, बंदौं बारंबार,
नारायन भव-सिंधु-हित जे नौका सुखसार।
जाके मन में बस रही मोहन की मुसिक्यान,
नारायन ताके हिये और न लागत ज्ञान।

अमा-पुत्र मैं-मैं कहत दिए आपने प्रान;
नारायन मैना भली, साय मलीदा खान।"

ब्रजभाषा ही नहीं, खड़ी बोली के कवि भी पंजाब में हुए हैं। स्वामी रामतीर्थजी की रचनाएँ अपने ढंग की निराली हैं। इनके प्रत्येक पद से परमात्मा का प्रेम और देशानुराग टपकता है। कुछ पंक्तियाँ उनकी भी सुनाता हूँ—

"हम रूखे टुकड़े खाएँगे; भारत पर वारे जाएँगे;
हम सूखे चने चबाएँगे; भारत की बात बनाएँगे।
हम नंगे उम्र बिताएँगे; भारत पर जान मिटाएँगे।
शोलों पर दौड़े जाएँगे; काँटों को राह बनाएँगे।
हम दर-दर धक्के खाएँगे; आनँद की झलक दिखाएँगे।
सब रिश्ते-नाते तोड़ेंगे; दिल एक आत्म सँग जोड़ेंगे।
सब विषयों से मुँह मोड़ेंगे; सिर सब पापों का फोड़ेंगे।"

क्षत्रिय को लक्ष्य कर स्वामीजी कहते हैं—

"धर्म की आन पर है जान कुर्बान;
गीदी बनकर न हो कभी हैरान।
वही क्षत्रिय है राम का प्यारा,
देश पर जिसने जान को वारा।"

कवि ही नहीं, गद्य-लेखक भी पंजाब में अच्छे-अच्छे हुए, और हैं। सबका सविस्तर वर्णन न कर कुछ चुने हुए लोगों की ... कर देता हूँ। स्वामी निश्चलदास ने 'विचार-सागर' ...र 'वृत्ति-प्रभाकर'-नामक प्रसिद्ध वेदांत-ग्रंथ हिंदी में लिखे

हैं। इनके बारे में मैं अपनी ओर से कुछ न कह एक बंगाल सज्जन की उक्ति उद्धृत कर देता हूँ। बंगाल के परलोकवास प्रसिद्ध देश-भक्त बाबू मनोरंजन टाकुर अपनी 'निर्वासित कहानी' में लिखते हैं—"प्रायः ३ सौ वर्ष पहले स्वामी निश्चल दास ने 'विचार-सागर' और 'वृत्ति-प्रभाकर' की रचना क थी। वृत्ति-प्रभाकर बड़ा चमत्कारिक ग्रंथ है। वर्तमान बंग भाषा के वैभवशालिनी होने पर भी इस श्रेणी के ग्रंथ उसा भांडार में नहीं पाए जाते।"

पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'सत्यामृत-प्रवाह', 'भाग्यवर्त आदि पुस्तकें हिंदी में लिखी थीं, जिनका तीस-चालीस व पहले बड़ा आदर था।

प० आर्यमुनि ने छ शास्त्रों, उपनिषदों और गीता का हिंद में उल्था किया है। पं० राजाराम शास्त्री ने भी संस्कृत-ग्रंथों व हिंदी में भाषांतर किया है।

पं० हरमुकुंद शास्त्री ने कलकत्ते के 'भारतमित्र' का संपाद योग्यता के साथ आरंभ में बहुत दिनों तक किया। बाबू नवी चंद्रराय ने बंगाली होकर भी हिंदी की अच्छी सेवा की। इनक पुत्री श्रीमती हेमंतकुमारी देवी आज भी हिंदी की सेवा करती हैं और प्रायः सम्मेलन में सम्मिलित होती हैं। स्वामी सत्यदेव भ अमेरिका की 'आश्चर्य-जनक घंटी' से हिंदी का हित-साधन क रहे हैं।

वर्तमान लेखकों में अध्यापक रामदेवजी और भाई परमानंद

जी विशेष उल्लेख्य हैं। स्वामी श्रद्धानंदजी ने कांगड़ी में गुरु-कुल स्थापित कर हिंदी का हित-साधन किया है। वहाँ हि[illegible] द्वारा सब प्रकार की शिक्षा दी जाती है।

आर्यसमाज ने भी हिंदी का अच्छा प्रचार किया है। स्वामी दयानंदजी के 'सत्यार्थप्रकाश' से हिंदी-प्रचार में अच्छी सहायता मिली। आर्यसमाज के उपदेशकों ने जैसे हिंदी का प्रचार किया, वैसे ही सनातन-धर्म के उपदेशकों ने भी किया। श्रद्धेय पूज्य पंडित दीनदयालु शर्मा की वाणी ने भी हिंदी-प्रचार में बड़ा काम किया। आपने काश्मीर से कलकत्ते, और मद्रास से मुंबई तक हिंदी का डंका बजा दिया है। डी० ए० वी० कॉलेज, सनातन-धर्म कॉलेज, दयालसिंह कॉलेज, हिंदू-कन्या-विद्यालय और जालंधर-कन्या-महाविद्यालय में हिंदी को स्थान मिला है।

मित्र-विलास, हिंदू-बांधव, भारत-भगिनी, स्वदेशबंधु, प्रभा, ऊषा, चाँद, पांचालपंडिता, सद्धर्म-प्रचारक, इंदु, स्वदेश-धर्म-प्रचारक, ब्रह्मविद्या-प्रचारक आदि पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं। परंतु खेद है, एक-एक कर सब बंद हो गईं! पंजाब में आजकल 'ज्योति' की ख्याति है। इसका संपादन श्रीमती विद्यार्थ[illegible] सेठ करती हैं।

## हिंदी की वर्तमान दशा

सज्जन', अब हिंदी की वर्तमान दशा के संबंध में कुछ निवेदन करता हूँ। इसमें संदेह नहीं कि इधर दस-बारह वर्षों में हिंदी

ने आशातीत उन्नति की है, और कर रही है। प्रायः सब प्रांतों में इसका प्रचार दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है। देश के प्रायः सब विद्वानों ने इसे राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया है, और करते जाते हैं। राजनीति, अर्थ-शास्त्र, इतिहास, तथा काव्य आदि विविध विषय की नित्य नई पुस्तक-पुस्तिकाएँ धड़ाधड़ निकल रही हैं, जिनकी छपाई-सफ़ाई और कागज़ की बड़ाई जितनी की जाय, थोड़ी है। राजनीति और असहयोग की जितनी पुस्तकें हिंदी में प्रकाशित हुई हैं, उतनी शायद किसी दूसरी भाषा में नहीं हुईं। सचित्र और अचित्र मासिक पत्र-पत्रिकाओं की भी यथेष्ट संख्या है। पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रों की कौन कहे, दैनिक पत्र भी आधे दर्जन से ज़्यादा निकल रहे हैं। इनमें ३ तो सिर्फ़ कलकत्ते से, १ काशी, २ कानपुर, १ दिल्ली और १ लखनऊ से प्रकाशित होता है। 'भारतमित्र' ने ही दैनिक संस्करण का पथ दिखाया है। और पत्र उसके बाद निकले हैं। सभा-समितियाँ और नाटक-मंडलियाँ भी बड़े-बड़े नगरों में स्थापित हो अपना-अपना काम मज़े में कर रही हैं। पुस्तकालय और वाचनालय भी स्थान-स्थान पर स्थापित हो रहे हैं। काशी का ज्ञानमंडल और प्रयाग की विज्ञान-परिषद् विशेष उल्लेख के योग्य हैं। इनसे हिंदी का बड़ा उपकार हो रहा है।

हिंदी-विद्यापीठ का भी श्रीगणेश हो गया है। सभी हिंदी के प्रचार और उन्नति में दत्तचित्त हैं। रजवाड़ों में भी हिंदी

की पुनर्मैंट होती जाती है। बड़ोदा, ग्वालियर, अल्व बीकानेर, इंदौर और रीवाँ के नरेशों ने राष्ट्रभाषा हिंदी आदर कर दूरदर्शिता दिखाई है। युद्ध के समय देशी सिपाहि के मनोरंजनार्थ विलायत से एक सचित्र पत्र निकला जिसमें हिंदी को भी स्थान मिला था। महात्मा गांधी की से कांग्रेस में भी हिंदी पहुँचकर अपना आसन जमा बैठी है हिंदी के लेखकों, लेखिकाओं और कवियों की संख्या बढ़ रही है। तात्पर्य यह कि हिंदी-साहित्य-संसार की बाहरी दशा संतोष जनक है।

## भीतरी दशा

हिंदी की बाहरी दशा जैसी अच्छी है, भीतरी दशा वैसी नहीं। इसका कारण लेखकों और कवियों की अहम्मन्यता और हठधर्मी है। भाषा की शुद्धता और स्वच्छता की ओर किसी का ध्यान नहीं है। सभी अपना-अपना पांडित्य प्रकट करने में लगे हैं, कोई किसी की नहीं सुनता। सभी ऐंग्लिङ बन गए हैं। इससे हिंदी के शील, शैली और सौंदर्य का सत्यानाश हो रहा है। न वर्ण-विन्यास का ठिकाना, और न वाक्य-रचना का। 'मनमानी घरजानी' का बाजार गर्म है। सच्चे समालोचक के अभाव से ही लेखकों की यह स्वेच्छा-चारिता बढ़ गई है। यदि यह शीघ्र न रोकी जायगी, तो पीछे बड़ी हानि होगी। सम्मेलन को अभी से सावधान हो जाना चाहिए।

परलोकवासी मित्रवर बाबू बालमुकुंद गुप्त की याद इस
समय आती है। वह 'हिंदी बंगवासी' और 'भारतमित्र' के
संपादन-काल में प्रायः समालोचनात्मक लेख लिखा करते थे।
उनका प्रभाव भी अच्छा पड़ा था। उनकी समालोचना के थपेड़े
से कितने ही लेखक और कवि राह पर आ गए थे। आजकल
लेखक और कवि स्वेच्छाचारिता करने पर जैसे उतारू हो जाते
हैं, वैसे उस समय नहीं हो सकते थे। गुप्तजी साहित्य की
मर्यादा-भंग करनेवाले को कभी क्षमा न करते थे, और न
मर्यादा-रक्षा करनेवाले का उत्साह बढ़ाने में कभी कोई त्रुटि।
काशी के भारतजीवन-प्रेस से 'चित्तौर चातकी' और
'अश्रुमती' नाम के दो उपन्यास निकले थे। ये दोनो ही
बंगला के उल्था थे। इनके कथानक का आधार उदयपुर के
राणा थे। इन दोनो में ऐसी कल्पित कथाएँ थीं, जिनसे हिंदूपति
राणाओं के वंश पर धब्बा लगता था। गुप्तजी यह सहन
न कर सके। उन्होंने इनके विरुद्ध लेखनी उठाई, और उनको
गंगा-प्रवाह कराके छोड़ा। मूल-बँगला-लेखक ने भी अपनी
भूल मान ली थी। उस समय के 'हिंदी बंगवासी' और
'भारतमित्र' इसके प्रमाण हैं। इन्हीं गुप्तजी के देहावसान पर
हिंदी के एक सुलेखक ने शोक के बदले आनंद मनाया था।
उसने अपने पत्र में लिखा था कि "चलो अच्छा हुआ, अब
हिंदी के लेखक स्वतंत्र होकर लिखेंगे।" इसमें ज़रा भी संदेह
नहीं कि लेखक अवश्य स्वतंत्र हो गए; पर बेचारी हिंदी की

हत्या हो रही है। मुहाविरों का मुँह इस तरह मुड़ा जा
कि उन्हें मुँह दिखाने का मौक़ा ही नहीं। कहीं व्या
का बहिष्कार होता है, तो कहीं कोष का कायाकल्प।
वर्ण-विन्यास विपर्यय करता है, तो कोई शैली का संहार। व
भी ऊट-पटांग होता है। बंगाल की बू, मराठी की महक
गुजराती की गंध से हिंदी का होश-हवास गुम है। अँगरे
के अधड़ ने तो और भी आफ़त ढाई है। कोई हिंदी में बि
लगाता है, तो कोई विभक्ति का विच्छेद करता है। को
खड़ी बोली खड़ी करता है, तो कोई ब्रजभाषा का बहिष्कार
कोई संस्कृत-शब्दों की सरिता बहाता है, तो कोई ठेठ हिंदी
का ठाठ बनाता है। मतलब यह कि सभी अपनी-अपनी धुन
में मस्त हैं। कोई किसी की नहीं सुनता। नाई की बारात में
सभी ठाकुर हो रहे हैं। ऐसी अवस्था में आलोचना की अत्यधिक
आवश्यकता है। यदि समालोचक-माली साहित्य-वाटिका में
काट-छाँट न करे, तो गुलाब को धतूरे दबा लेंगे, इसमें संदेह
नहीं। हिंदी-साहित्य-वाटिका की रक्षा करना क्या सम्मेलन का
कर्तव्य नहीं है?

## हिंदी में बिंदी

कुछ लोग हिंदी में बिंदी लगाने के तरफ़दार हैं। ड, ढ के
नीचे लगाने की बात नहीं है। बात है अरबी-फ़ारसी के
अक्षरों में नुक़्ता लगाए जाने की। तलफ़्फ़ुज़ के लिहाज़ से ही वे
ऐसा करते हैं; पर यह नहीं सोचते कि इस बिंदी से हिंदी का

चेंदी निकल रही है । बिंदी की बीमारी यहाँ तक बढ़ी कि
न्नौज में भी नुक्ता लग गया । भला कन्नौज के क में नुक्ता
गाने की क्या ज़रूरत ! न तो अरब या फ़ारस से यह आया,
ौर न उनसे इसका कोई संबंध ही है । प्राचीन कान्यकुब्ज-देश
ा रूपांतर ही तो कन्नौज है । फिर यह जुल्म क्यों ? जो अरबी-
ारसी के आलिम-फ़ाज़िल नहीं हैं; वे नुक्ता लगाने में अक्सर
ूल करते हैं । एक बार एक प्रसिद्ध विद्वान् वकील साहब ने अपनी
दालत के क में नुक्ता लगा दिया था । बात यह है कि मौलवी
ाहब के मकतब की हवा खाए बिना नुक्ता लगाना नहीं आ
कता । पर हिंदी लिखने में इसकी जरूरत ही क्या ? जो जान-
ार हैं, वे नुक्ता बिना भी ठीक पढ़ लेंगे, और जो नहीं हैं, वे
ंदी की तरह पढ़ लेंगे । हाँ, जो भाषा-तत्त्व-विद् हैं, वे मज़े में
दी लगा सकते हैं । पर सब लोगों को इसके फेर में न पड़ना
ाहिए । हिंदी को बिंदी से पाक-साफ़ ही रखना अच्छा है ।
ीधी-सादी हिंदी को नई उलझन में फँसा उसे जटिल बना देना
नुचित और हानिकारक है ।

## वर्ण-विन्यास

इसमें भी बड़ी गड़बड़ है । कोई 'गयी' को दीर्घ ईकार से
खता है, और कोई य में ईकार लगाकर । इसी तरह 'सकता'
। कोई क त मिलाकर लिखता है, और कोई अलग करके । हुआ,
ा, हुये, हुए, हुई, हुयी आदि बहुत-से शब्द हैं, जो मनमाने
र से लिखे जाते हैं । इनका फ़ैसला हो जाय, और सब कोई

बात ठीक नहीं। इसके सिवा प्रत्येक प्रांत अपने-अपने उचारण का पक्षपात करेगा। बिहार के पटने में 'बाजाड़ के कड़ैले की तड़कारी से पेट में दड्द' होता है। तिरहुत में 'कोरा मारकर सरक पर घोरा दौराया जाता है।' आगरा-प्रांत के लोग 'उद के सेन में चंद को मिघ रिछा बुज पै फस्स बिछाते हैं।' बीका-नेर में 'अपने मतलब से चोर पपड़ते हैं', पकड़ते नहीं। इसी तरह पंजाब में भी 'मंद्र के अंद्र चंद्र देख शमशान का समरन' होता है। फिर कहाँ का उच्चारण टकसाली माना जायगा? सभी प्रांतवाले अपना-अपना सिक्का जमावेंगे, जिसका परिणाम उच्छृं-खलता के सिवा और कुछ न होगा। इसलिये हर हालत में Phonetic Spelling की दुहाई देना हिंदी के लिये हानि-कारक है।

## कोष

अच्छे कोष का अभाव अभी तक बना हुआ है। जो हैं, उनमें संस्कृत-शब्दों की भरमार है। ठेठ हिंदी-शब्द ढूँढ़ने से भी नहीं मिलते। इसी हेतु बहुत-सी प्राचीन कविताओं का अर्थ समझने में कठिनाई होती है। काशी-नागरी-प्रचारिणी का कोष अभी तक पूरा नहीं हुआ। हो भी, तो उससे जैसा चाहिए, वैसा काम नहीं निकलेगा।

## व्याकरण

इसकी तो बड़ी मिट्टी पलीद हो रही है। अधिकांश लेखक

उर्दूवाले 'धरमसाले' में 'पाठसाले का चर्चा' कर 'मोहन-
ले' से अपना 'मान-मर्यादा' बढ़ाते हैं, और हिंदीवाले
पनी कबीला' की 'डुलिया' अपनी 'तायफ़ा' को बता
दी धोती' न दे, 'बेहूदी बातें' बक 'ताज़ी खबरें' सुनाते
। संस्कृतवाले भला क्यों चुप रहने लगे । वे भी 'पवित्रा
शाला' में 'विदुषी व्यक्तियों' का बुला 'नयी देवता' के
े 'धधकते हुए अग्नि' में 'अपना आत्मा' अर्पण करते
। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं ? कहने का तात्पर्य यह
हिंदी में धर्मशाला, पाठशाला, चर्चा, माला, मर्यादा आदि
द स्त्रीलिंग हैं, पर उर्दूवालों ने इन्हें पुंलिंग बना रक्खा है ।
ी तरह कबीला, डुलिया, तायफ़ा पुंलिंग हैं; पर हिंदी के
ल्दों ने इन्हें स्त्रीलिंग कर डाला है । उम्दा, बेहूदा, ताज़ा
रह लफ़्ज़ स्त्रीलिंग में कभी उम्दी, बेहूदी, ताज़ी नहीं बनते
। इनका रूप सदा एक-सा रहता है । व्यक्ति और देवता
कृत में स्त्रीलिंग होने पर भी हिंदी में पुंलिंग हैं, और अग्नि
ा आत्मा संस्कृत में पुंलिंग, पर हिंदी में स्त्रीलिंग हैं । धर्म-
ला स्त्रीलिंग होने पर भी हिंदी में 'पवित्र' धर्मशाला ही कह-
..एगी, 'पवित्रा' नहीं ।

लिंग-प्रयोग की विभिन्नता यहीं समाप्त नहीं । आगे और भी
विचित्रता है:—

'नागरी-प्रचारिणी सभा' के रहते हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की
'स्थायी समिति' ( स्थायिनी नहीं ) अभागी ( अभागिनी नहीं )

और कवि लिखने के समय व्याकरण को ताक पर रख देते और डंके की चोट उसका बहिष्कार करते हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहने का दुस्साहस कर बैठते हैं कि हिंदी में अभी व्याकरण ही नहीं है। पर यह उनकी सरासर भूल है। हिंदी में व्याकरण था, और है। नहीं हैं उसके माननेवाले। हाँ, यह बात जरूर है कि व्याकरण की सर्वांग-सुंदर पुस्तक अभी तक नहीं छपी है। जो दो-चार आँसू पोंछने के लिये हैं, उनकी कोई परवा नहीं करता है। पंडित केशवराम भट्ट और पं० अंबिका-प्रसाद वाजपेयी के व्याकरण अपने ढंग के अच्छे हैं, पर वाज-पेयीजी ने हिंदी की संधि के सिद्धांतों में पड़कर उसे ज़रा जटिल कर दिया है। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा का व्याकरण देखने का सौभाग्य अभी प्राप्त नहीं हुआ है।

व्याकरण के अंतर्गत ही लिंग, वचन और कारक हैं। इनकी भी छीछालेदर हो रही है। कोई नियम का पालन नहीं करता। पहले लिंग-विपर्यय को ही लीजिए।

## लिंग-विचार

इसका पूरा वर्णन मैं इसी पुस्तक के 'हिंदी-लिंग-विचार' शीर्षक परिच्छेद में कर चुका हूँ। अब उसे यहाँ फिर दुहराना अनुचित है। पर इतना जरूर कहूँगा कि हिंदी के लिंग-प्रकरण की बड़ी दुर्दशा हो रही है। कोई तो संस्कृत-रीति से उसका प्रयोग करता है, कोई उर्दू-तरीके से, और कोई मनमाने तौर से। नतीजा यह [illegible]

उर्दू वाले 'धरमसाले' में 'पाठसाले का चर्चा' कर 'मोहन-माले' से अपना 'मान-मर्यादा' बढ़ाते हैं, और हिंदीवाले 'अपनी कबीला' की 'डुलिया' अपनी 'तायफ़ा' को बता 'उम्दी धोती' न दे, 'बेहूदी बातें' बक 'ताज़ी खबरें' सुनाते हैं। संस्कृतवाले भला क्यों चुप रहने लगे। वे भी 'पवित्रा धर्मशाला' में 'विदुषी व्यक्तियों' का मुखा 'नयी देवता' के आगे 'धधकते हुए अग्नि' में 'अपना आत्मा' अर्पण करते हैं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं ? कहने का तात्पर्य यह कि हिंदी में धर्मशाला, पाठशाला, चर्चा, माला, मर्यादा आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं, पर उर्दू वालों ने इन्हें पुंलिंग बना रक्खा है। इसी तरह कबीला, डुलिया, तायफ़ा पुंलिंग हैं; पर हिंदी के रँगरूटों ने इन्हें स्त्रीलिंग कर डाला है। उम्दा, बेहूदा, ताज़ा वग़ैरह लफ़्ज़ स्त्रीलिंग में कभी उम्दी, बेहूदी, ताज़ी नहीं बनते हैं। इनका रूप सदा एक-सा रहता है। व्यक्ति और देवता संस्कृत में स्त्रीलिंग होने पर भी हिंदी में पुंलिंग हैं, और अग्नि तथा आत्मा संस्कृत में पुंलिंग, पर हिंदी में स्त्रीलिंग हैं। धर्म-शाला स्त्रीलिंग होने पर भी हिंदी में 'पवित्र' धर्मशाला ही कह-लायगी, 'पवित्रा' नहीं।

लिंग-प्रयोग की विभिन्नता यहीं समाप्त नहीं। आगे और भी विचित्रता है—

'नागरी-प्रचारिणी सभा' के रहते हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की 'स्थायी समिति' (स्थायिनी नहीं) अभागी (अभागिनी नहीं)

हिंदी की शोचनीय स्थिति (शोचनीया नहीं) देख 'स्वतंत्र-वादी महिला' (वादिनी नहीं) की भाँति 'प्रभावशाली देवता' (शालिनी नहीं) से प्रार्थना कर रही है। इधर 'उपयोगिनी पुस्तक' में 'शृंगार-संवर्धिनी चेष्टा' देख 'कार्यकारिणी सरकार' से 'प्रभावशालिनी वक्तृता' में 'परोपकारिणी वृत्ति का परिचय भी दिया जाता है। पर यह कोई नहीं पूछता कि पुस्तक-शब्द ने संस्कृत में कबसे स्त्री का रूप धारण कर लिया, जो उसका विशेषण 'उपयोगिनी' बना है। हिंदी में पुस्तक जरूर स्त्रीलिंग है; पर यहाँ उपयोगी कहने से ही काम चल सकता है।

आजकल 'भली भाँति' के वजन पर 'भली प्रकार' और 'अच्छी तरह' की जगह 'अच्छी तौर' का चलन चल गया है; पर यह 'तौर' अच्छा नहीं, और न 'प्रकार' ही भला है।

हिंदी के लिंग-विभाग पर प्रायः सभी प्रांतवाले कुछ-न-कुछ अत्याचार करते हैं। पंजाब भी इस पाप से मुक्त नहीं। 'तारें आती हैं', और 'खेलें होती हैं'; पर तार और खेल हिंदी में पुंलिंग हैं।

प्रांतीयता के प्रेम का परित्याग कर दिल्ली, मथुरा तथा आगरे के प्रयोगों का अनुकरण सबको करना चाहिए, क्योंकि यहाँ के प्रयोग शुद्ध और माननीय हैं।

## वचन

भी बड़ी गड़बड़ है। लताएँ, शिलाएँ और माताएँ पर कुछ लोग स्त्रीएँ, नारिएँ और बेटिएँ लिखते हैं।

अशुद्ध हैं। इसके शुद्ध रूप बहुवचन में स्त्रियाँ, नारियाँ औ
हैं। एकवचन लड़का, बहुवचन लड़के ठीक हैं; पर राज
हुवचन राजे अशुद्ध है।

## विभक्ति

का भी झगड़ा बहुत दिनों से है। बहुत-कुछ लिखा-पढ़
रों में हुई, पर नतीजा कुछ न निकला। इसके दो दल है
ल तो सटाऊ सिद्धांत का है, और दूसरा हटाऊ का
विभक्तियों को प्रकृति से मिलाकर लिखते हैं; पर हटाऊ
अलग। श्रद्धेय पं० गोविंदनारायण मिश्र ने 'विभक्ति-विचार'
में इसकी विशेष व्याख्या की है। मैंने भी 'विभक्ति-प्रत्यय'-
शीर्षक लेख में प्रकृति-प्रत्यय मिलाकर लिखना ही व्याकरण-संगत
और युक्ति-युक्त सिद्ध किया है। इसके सिवा विभक्ति मिलाकर
लिखने से कागज़ की बड़ी बचत होती है। आशा है, इस
पुराने विवाद-ग्रस्त विषय की मीमांसा सम्मेलन शीघ्र करेगा।

## वाक्य-रचना

इसमें भी बड़ी विचित्रता है। प्रायः लोग लिखते हैं 'संपादक भारतमित्र'। इसका अर्थ हिंदी-व्याकरण के अनुसार होता है संपादक का भारतमित्र। पर लिखने का यह तात्पर्य नहीं है। उसका अभिप्राय है 'भारतमित्र का संपादक'। इसलिये 'भारतमित्र-संपादक' लिखना ही शुद्ध है। इसी प्रकार महाराज बीकानेर न लिखकर बीकानेर-महाराज लिखना चाहिए। यह लिखना भी गलत है—'षष्ट युक्तप्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन मुरादाबाद

के सभापति'; क्योंकि सभापति का संबंध मुरादाबाद से नहीं सम्मेलन से है। इसलिये 'मुरादाबाद षष्ठ हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति' लिखना शुद्ध है। इसी तरह प्रसिद्ध पंजाबी प्रयोग 'मैंने कहा हुआ है', और विहारी प्रयोग 'हम कहे' आदि अशुद्ध हैं। नए लेखकों को इन बारीकियों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

## शैली

शैली का भी कोई सिद्धांत स्थिर नहीं। जितने लेखक हैं, उतने ही प्रकार की शैलियाँ बन गई हैं। कोई संस्कृत के बड़े-बड़े शब्द और समस्यंत पद प्रयुक्त करता है, कोई प्रचलित सरल संस्कृत-शब्दों को छोड़ ठेठ हिंदी के शब्दों का प्रयोग करता है। कोई अरबी-फ़ारसी के बड़े-बड़े अल्फ़ाज़ काम में लाता है, कोई प्रचलित विदेशी शब्दों को छोड़ संस्कृत के कठिन शब्दों का व्यवहार करता, और कोई सबको खिचड़ी पकाता है।

अब प्रश्न है कि कैसी भाषा लिखनी चाहिए!

मेरी समझ से विषय के अनुकूल भाषा होनी चाहिए। इसके लिये कोई नियम स्थिर कर लेखकों को जकड़बंद करना अनुचित है। इसके सिवा भाषा वही अच्छी है, जो सबकी समझ में आवे। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने भी सरल भाषा का समर्थन की है।

बँगला के प्रसिद्ध लेखक 'वंदेमातरम्'वाले बंकिमचंद्र कहते हैं—"रचना का प्रधान गुण और प्रयोजन सरलता और स्पष्टता है। वही सर्वोत्कृष्ट रचना है, जिसे सब कोई समझ सके—पढ़ते ही जिसका अर्थ समझ में आ जाए और अर्थ-गौरव भी रहे।"

बात भी यही है। सरलता और स्पष्टता के साथ भाषा का सौंदर्य भी हो। लिखने के पहले देख लेना चाहिए कि कैसी भाषा लिखने से सबकी समझ में आ जायगी। अगर बोलचाल की भाषा में भाव भली भाँति प्रकट हो सके, तो क्लिष्ट भाषा की क्या आवश्यकता है? यदि संस्कृत-शब्दों से भाव अधिक स्पष्टता और सुंदरता के साथ व्यक्त हो, तो तद्भव शब्द छोड़कर तत्सम शब्द प्रयुक्त करना युक्ति-युक्त है। इससे भी काम न चले, तो कठिन शब्दों का व्यवहार भी बुरा नहीं। 'मा-बाप' से काम न चले, तो 'माता-पिता' के निकट जाने में क्या हानि है। आवश्यकता हो, तो 'जनक-जननी' की भी शरण लेनी चाहिए। तात्पर्य यह कि विषय के अनुकूल ही भाषा होनी चाहिए, पांडित्य प्रकट करने के लिये नहीं।

देश-काल-पात्र के भेद से क्लिष्ट और सरल भाषा का प्रयोग करना उचित है। श्रीगणेशाय और बिसमिल्लाह करने की जगह है। सब जगह गाय-बैल और भेड़-बकरियों से काम न चलेगा। मौक़ा-महल देखकर धेनु और मेष से भी काम लेना होगा। पर याद रहे, मुस्किराना छोड़ सदा ईषद् हास्य ठीक नहीं। डकार लेने में जो मज़ा है, वह उद्गार में नहीं। धक्की-चढ़ी में जो आनंद है, वह कृष्ण-सलेखा में नहीं। यही हाल जमहाई और जृम्भन का है।

मिल्टन के समय अँगरेजी बड़ी क्लिष्ट और शब्दाडंबर से परिपूर्ण थी। ड्राइडन ने फ़्रांसीसी गद्य के आदर्श पर सरल अँग-

रेजी की चाल चलाई। पीछे जॉनसन ने लैटिन भाषा के ब
बड़े शब्दों का प्रयोग कर उल्टी गंगा बहाने का प्रयत्न कि
किंतु सफल न हुआ। गोल्डस्मिथ की भाषा लोगों ने पसंद क
और उसी समय से सरल भाषा की ओर लेखकों का झुकाव हु
और अब तक है।

कुछ लोग विशुद्धता के इतने पक्षपाती हो गए हैं कि बह
प्रचलित विदेशी शब्दों को चुन-चुनकर हिंदी-भाषा से निका
रहे हैं, और उनकी जगह अप्रचलित तत्सम शब्द चलाने की
चेष्टा कर रहे हैं। इससे हिंदी को हानि के सिवा लाभ नहीं है;
क्योंकि अरबी, फ़ारसी, अँगरेज़ी आदि भाषाओं के जो शब्द
हिंदी में घुल-मिल गए हैं, उन्हें निकाल देना हिंदी का अंगच्छेद
करना है। लालटेन, डिगरी, समन, वारंट, स्टेशन, रूमाल,
मोज़ा, मसजिद, नमाज़, मज़दूर, गुलाम, गरीब अब हिंदी की
संपत्ति हैं। इन्हें छोड़ना हानिकारक है। मोज़े की जगह
'पादावरण' और रूमाल के बदले 'मुखमार्जन वस्त्रखंड' का
व्यवहार करने से असुविधा होगी। इसी 'स्टेशन' न क
'अग्निरथ-विश्राम-स्थान' जाने में बड़ी दिक्कत है। गत हिंदी-
साहित्य-सम्मेलन के सभापति पं० रामावतार शर्मा तो विदेशी
शब्दों के इतने विरोधी हैं कि उन्होंने अपने भाषण में ऑक्स-
फ़ोर्ड को 'उक्षतरु', केंब्रिज को 'कामसेतु' और न्यूयॉर्क को
'नवार्क' बना डाला है। उनका कहना है कि योरपवालों ने दि
को 'डेलि' कर डाला, तो हम लंदन को 'नंदन' क्यों न क

किसी अंश में यह बात ठीक भी हो सकती है; परंतु प्रचलित शब्दों के परित्याग करने का मैं पक्षपाती नहीं, और न हिंदी शब्दों के रहते तत्सम या विदेशी शब्दों के प्रयोग का समर्थक हूँ। सन् १८९९ ई० में काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने हिंदी के विद्वानों की सम्मति लेकर हिंदी की लेख-प्रणाली के संबंध में जो मीमांसा की, वह इस प्रकार है—"सारांश यह कि सबसे पहला स्थान शुद्ध हिंदी के शब्दों को, उसके पीछे संस्कृत के सुगम और प्रचलित शब्दों को और सबके पीछे फ़ारसी आदि विदेशी भाषाओं के साधारण और प्रचलित शब्दों को स्थान दिया जाय। फ़ारसी आदि विदेशी भाषाओं के कठिन शब्दों का प्रयोग कदापि न हो।" लेख-शैली के विषय में भी उसका निश्चय यह है—"भिन्न-भिन्न विषयों तथा अवसरों के निमित्त भिन्न भिन्न प्रणाली आवश्यक है। जो ग्रंथ या लेख इस प्रयोजन से लिखे जाएँ कि सर्व-साधारण उन्हें समझ सकें, उनकी भाषा ऐसी सरल होनी चाहिए कि सर्व-बोधगम्य हो।"

काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने भी हिंदी के [illegible] की सम्मति से 'हिंदी-[illegible]' नाम की पुस्तक प्रकाशित की है। उसमें लिखा है—"भाव उद्देश के अनुसार भाषा होनी चाहिए। साधारण और विद्वान् की [illegible] होनी उचित है, क्योंकि सर्व-साधारण इसके अधिकारी हैं। [illegible] और [illegible] करने के लिये जो पुस्तकें लिखी जाएँ, वे अत्यंत सरल हों।

पुस्तकों में नाम-मात्र की भी कठिनता न रहनी चाहिए।" आ
हैं, लेखक हिंदी के शील और शैली की रक्षा करेंगे।

## बेमेल शब्द

हिंदी के कुछ सुलेखक 'उच्च खयाल', 'हिंदी के गौरव क
जमाना', 'खास श्रेणी', 'हर समय', 'खास कारण', 'काफ़ी
संख्या', 'खतरनाक प्रवृत्ति', 'प्रतिकूल राय', 'तादृश परवा'
'इमारतें जीर्ण होकर भूमिसात् हो जाती हैं' आदि पद और
वाक्य लिखने में तनिक भी संकोच नहीं करते। यह गंगा-
मदार का जोड़ा अच्छा नहीं। गौरव का जमाना या युग!
जमाना तो फ़ख्र का ही अच्छा है। इसी तरह उच्च विचार और
ऊँचा खयाल, विशेष श्रेणी और खास दरजा, प्रति समय और
हर वक्त, विशेष कारण और खास सबब, यथेष्ट संख्या और
काफ़ी तादाद, तथा प्रतिकूल सम्मति और खिलाफ़ राय आदि
होना उचित और मुनासिब है।

## उल्था

सज्जनो, उल्था करना बुरा नहीं; पर उल्था करनेवाले को दोनों
भाषाओं पर (जिससे उल्था करना है, और जिसमें करना है)
पूरा अधिकार होना चाहिए। अनधिकारी का उल्था कभी ठीक
नहीं होता। बँगला के अनुवाद को ही लीजिए। अधिकांश
अनुवाद अशुद्ध और बँगलापन से भरे हुए हैं। प्रकाशक भी
आँखें मूँदकर अनुवाद कराते और छापते हैं। इससे हिंदी का

गौरव बढ़ने के बदले घटता जाता है। मूल-लेखक के भाव
होने के सिवा हिंदी का हिंदीपन भी नष्ट होता है। अनधिक
अनुवादक के अनुग्रह से हिंदी में बँगलापन बेतरह ब
जाता है।

दिग्दर्शन के लिये कुछ उदाहरण उद्धृत करता हूँ। स
पहले 'गल्प' को ही लीजिए। आजकल गल्प की कल
अल्प नहीं, अधिक होती जाती है। यह ठेठ बँगला का श
है, संस्कृत का नहीं। पर हिंदीवाले आँखों पर पट्टी बाँध
इसका व्यवहार कर रहे हैं। कथा, कथानक, उपाख्यान, कि
कहानी के रहते 'गल्प' का गौरव बढ़ाना बेजा है। यों
'सुहाग रात' के रहते 'फूल शैयावाली रात्रि' की अ
अच्छी नहीं।

बँगला में एक मुहाविरा है "भूतों के बाप का श्राद्ध करन
इसका मतलब है "नाई की बारात में सभी ठाकुर।" पर
पुराने अनुभवी अनुवादक ने हिंदी में भी भूतों के बाप
श्राद्ध कर डाला है। हिंदी के पाठक इसका क्या अर्थ सम
होंगे, यह परमात्मा ही जाने।

एक संपादक महाशय ने 'पटलतोला' का तर्जुमा प
नौल्ना किया है, हालाँकि इसका अर्थ मृत्यु या मौत है।

बंगदेश का नाम है बंगाल। बंगाल के रहनेवाले बंग
और बंगाल की भाषा बँगला कहलाती है। पर हमारे
हिंदी-लेखक बंगभाषा की जगह बंगाली शब्द का प्रयोग

हैं। यह सरासर अशुद्ध और अनुचित है। हाँ, अँगरेज़ी में बंग-निवासी और बंग-भाषा, दोनो के लिये बंगाली शब्द का प्रयोग अवश्य होता है; पर उसकी नक़ल पर हमें भ्रम में न पड़ना चाहिए। उल्था करनेवाले 'फ़ारम' पूरा करने की धुन में इन बातों की परवा नहीं करते, और न प्रेमी प्रकाशक ही इधर ध्यान देते हैं। इससे हिंदी का हित न हो हानि हो रही है।

मराठी और गुजराती से भाषांतर करनेवालों ने 'लाग्', 'चालू' आदि शब्द हिंदी में चला दिए हैं।

अँगरेज़ीवाले भी कम अंधेर नहीं करते। वह 'आत्मशासन' न कर 'स्वास्थ्य-पान' करते और अपनी 'साधारण आत्मा' का परिचय दे शिमले में 'स्वास्थ्य-संचय' करते हैं। घर के कामों में 'भाग न ले' पबलिक कामों में 'स्वार्थ लेते हैं।' कुछ कहो, तो 'बेइज़्ज़ती जेब में रख' 'आस्तीन में हँसते हैं।' 'ईमानदार' तर्जुमा कर अँगरेज़ी का 'सुवर्णयुग' लाने के लिये हिंदी के 'चाय के प्याले में तूफ़ान उठाते हैं।' 'अनुकूल वायु' में पाल उड़ा माता-पिता को 'प्रिय पिता', 'प्रिया माता' संबोधन कर 'रम्य रजनी' कहते और 'लोहचेना' बन हिंदी को जहन्नुम भेजते हैं।

अँगरेज़ी न जाननेवाले भला इसका क्या अर्थ समझेंगे! 'स्वास्थ्य पीना', 'भाग लेना', 'स्वार्थ लेना', आदि हिंदीवालों के लिये नई चीज़ है। अँगरेज़ी में 'स्वास्थ्य पीने' की भले

ही चाल हो ; पर हिंदीवाले कभी किसी का स्वास्थ्य नहीं पीते। हाँ, प्रेम का प्याला पी सकते हैं। देवता यज्ञ में भाग लेते थे ; घर के कामों में कैसे भाग लिया जाता है, यह वह नहीं जानते। हाँ, हाथ ज़रूर बँटा सकते हैं। इसी तरह 'पब-लिक कामों में स्वार्थ लेने से' की जगह 'उसमें उनका अनुराग या प्रेम है' लिखना अच्छा है।

अक्षरानुवाद न कर अपनी भाषा-प्रणाली के अनुसार भावानुवाद, मर्मानुवाद या छायानुवाद करना उत्तम है। अक्षरानुवाद से भाषा का सौष्ठव नष्ट हो जाता है।

## अशुद्ध शब्द

समालोचना के अभाव से अशुद्ध शब्दों का व्यवहार दिन-दिन बढ़ता जाता है। संस्कृत-शब्दों की कौन कहे, हिंदी के शब्द और पद की शुद्धता की ओर भी अधिकांश लेखक ध्यान नहीं देते। गड्डलिका-प्रवाहवत् एक दूसरे का अनुकरण करते चले जा रहे हैं। उदाहरण के लिये 'अड़चन' और 'देख-रेख' को देखिए। अड़चन का शुद्ध रूप अड़चल है। मेरी ही नहीं, चतुर्थ सम्मेलन के सभापति हिंदी के सुप्रसिद्ध सुकवि पं० श्रीधर पाठक की भी यही राय है। वह अपने ता० २०-४-१८ के पत्र में लिखते हैं—"Bate's Dictionary में अड़चन लिखा है; परंतु मैं अड़चल को शुद्ध रूप समझता हूँ। अड़ (रोक) + चल (गति) = अड़चल = विघ्न कठिनाई।"

देख-रेख का शुद्ध रूप देख-भाल है ; क्योंकि देखने-भालने

से देख-भाल पद बना है। फिर देख-रेख कहाँ से आया? देखना-रेखना तो कोई धातु नहीं। इस तरह के और भी शब्द हैं; जिन्हें विस्तार-भय से छोड़ दिया है।

कुछ लेखकों को संकरी सृष्टि का बड़ा शौक है। वे हिंदी-क्रियाओं में संस्कृत-प्रत्यय लगाकर शब्द गढ़ते हैं। यही नहीं, हिंदी और संस्कृत-शब्दों में संधि-समास भी कर डालते हैं। यह अनुचित है। संकरी सृष्टि के भी कुछ नमूने ले लीजिए! अकाट्य, सराहनीय, चाहक, उपरोक्त, करजोड़, तकावी-पद्धति, भारत-सरकार, जिलाधीश इत्यादि।

अँगरेजी-हिंदी को मिलावट भी लीजिए—सबूट, कोटपैंट-धारी, स्कूल-भवन, गैस-प्रकाश आदि।

## अशुद्ध संधि

अब अशुद्ध संधि के भी उदाहरण सुन लीजिए—

शुद्ध या शुद्ध (शुद्धाशुद्ध), भूम्याधिकारी (भूम्यधिकारी), अनुमत्यानुसार (अनुमत्यनुसार), जात्योन्नति (जात्युन्नति), पश्वाधम (पश्वधम), दुरावस्था (दुरवस्था), सन्मुख (सम्मुख), संवत (संवत्), मनोकामना (मनस्कामना) आदि।

## असंस्कृत-शब्द

व्याकरण से असिद्ध शब्द भी खूब बरते जाते हैं। लावण्यता, माधुर्यता, सौंदर्यता, राजनैतिक, एकत्रित, प्रसित, प्रेदानित, ऐक्यता, ग्रंथित, सृजित, निर्मर्जित, अनुवादित, सिंचित, मान्द-नीय, पौर्वात्य, पठित समाज, मनीषीवर्ग, नेतागण, प्रातःकालीन,

विद्वान-समाज आदि असंस्कृत-शब्दों और पदों के उदाहरण हैं। ये न हिंदी-व्याकरण से सिद्ध हैं, और न संस्कृत-व्याकरण से। फिर भी इनका प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है।

## फ़ालतू शब्द

निर्दोष, निर्धन, नीरोग आदि के रहते निर्दोषी, निर्धनी, निरोगी की क्या ज़रूरत है?

## अनुपयुक्त शब्द

उपयुक्त शब्दों का उपयुक्त स्थान पर प्रयोग नहीं होता। शोक, खेद, विषाद, दुःख, परिताप आदि शब्दों का व्यवहार ही इसका प्रमाण है। कोई पत्रोत्तर न पाने पर 'शोक' करता है, और कोई अपने मित्र के मर जाने पर भी 'खेद' ही प्रकट करता है। आयु-शब्द आजकल उम्र के अर्थ में व्यवहृत होने लगा है। आयु का अर्थ जीवन-काल है, उम्र नहीं। उम्र के लिये वयस् शब्द उपयुक्त है। इसी प्रकार और भी कई शब्दों के साथ मनमानी की गई है।

## पद्य

महानुभावो, साहित्य के दो विभाग हैं—गद्य और पद्य। हिंदी-गद्य की गाथा तो गा चुका, अब पद्य की पर्यालोचना करना हूँ।

आजकल पद्य हिंदी-भाषा के तीन रूपों में लिखे जाते हैं—ब्रजभाषा, खड़ी बोली और उर्दू।

खड़ी बोली और उर्दू में बस यही अंतर है कि पहली में

संस्कृत और हिंदी के शब्द रहते हैं, और दूसरी में अर्बी फ़ारसी और हिंदी के। इन दोनो की गढ़न प्रायः एक-सी है। उर्दू वाले बहुत आगे बढ़ गए हैं; पर खड़ी बोलीवाले अभी खड़े-खड़े ब्रजभाषा पर बिगड़ ही रहे हैं। बेचारी ब्रजभाषा की चाल निराली है।

खड़ी बोली के खंड-प्रहार से ब्रजभाषा की गति रुक-सी गई है। इसके सिवा पुराने कवि वही पुरानी लकीर पीट रहे हैं। इससे उनकी कविताओं में नवीनता का अभाव-सा रहता है। यदि ये लोग प्रचलित विषयों पर नवीन रुचि के अनुकूल कविता करें, तो हिंदी-साहित्य का विशेष उपकार हो, और उनका भी आदर बढ़े।

खड़ी बोलीवाले बेतहाशा सरपट दौड़ रहे हैं। वे तुकबंदी को ही कविता समझते हैं। खड़ी बोली के कवि तो आजकल बहुत बन गए हैं, और बनते जाते हैं; पर यथार्थ में कवि कहलानेवाले बहुत थोड़े हैं। इनकी अधिकांश कविताएँ तुकबंदी के सिवा कुछ नहीं। केवल तुकबंदी का नाम कविता नहीं है, और न शब्द-समूह का। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं।' रसात्मक वाक्य काव्य है। जिस कविता से हृदय की कली न खिले, और चित्त तन्मय न हो, [illegible] कविता नहीं। भूषण के कवित्तों को श्रवण कर छत्र-[illegible] महाराज की नस-नस में उत्साह और वीरता की [illegible] दौड़ गई थी। बिहारी के एक ही दोहे पर जयपुर-नरेश [illegible] अंतःपुर से दरबार में [illegible] दौड़े चले आए थे। क्या

आजकल भी मन को मोहनेवाली ऐसी कविता होती हैं ! अ
कल की अधिकांश कविताएँ भाव-हीन, भाषा-हीन और रस-
होती हैं।

गद्य की तरह पद्य में भी भाषा-सौष्ठव की ओर किसी
ध्यान नहीं है। जिसे देखिए, वही अपोगंडभाषा में काव्य-क
को कलंकित और कलुषित कर रहा है—भाषा दोगली, और
वही उपेंद्रवज्रा या 'मार लातन मार लातन' आदि। खड़ी
की कविता में भाव का अभाव है, और ओज की खोज
है। लालित्य के तो सदा लाले पड़े रहते हैं। प्रसाद का
पता ही नहीं। रस क्या, रसाभास भी नहीं। अर्थ से न
और न मतलब से मतलब। इन्हीं बातों से दुःखी हो, काशी
श्रीयुत जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' अपने 'समालोचनादर्श'
कहते हैं, और बहुत ठीक कहते हैं—

"पै अब केते भए हाय हमि सत्यानासी;
कवि औ जाँचक रस अनुभव सों दोउ उदासी।
शब्द, अर्थ कौ ज्ञान न कछु राखत उर माहीं,
शक्ति निपुनता औ अभ्यास लेस हू नाहीं।
बिन प्रतिभा के लिखत तथा जाँचत विवेक बिन;
अहंकार सौं भरे फिरत फूले नित निसि-दिन।
जोरि-बटोरि कोऊ साहित्य-ग्रंथ निर्माने;
अर्थ-शून्य कहुँ, कहुँ विरोधी लच्छन ठाने।
नहिं जानत अति व्याप्ति, और अव्याप्ति असंभव;

बनि बैठत साहित्यकार, आचार्य; स्वयंभव।
अब खड़ी बोली पै कोऊ भयो दिवानो;
कोऊ तुकांत बिन पद्य लिखन में है अरसानो।"

वास्तव में इन खड़ी बोलीवालों ने बड़ा अत्याचार कर रखा है। भगवान् इनसे हिंदी-साहित्य की रक्षा करे। गद्य-पद्य की भाषा में सदा से अंतर है, और रहेगा। हिंदी ही नहीं, अँगरेजी का भी यही हाल है। कवि वर्ड्सवर्थ गद्य-पद्य की भाषा का एकीकरण करना चाहता था; पर अपना-सा मुँह लेकर रह गया। खड़ी बोली के कवि भी बोलचाल की भाषा में पद्य रचने का दम भरते हैं; पर रचते हैं विलक्षण भाषा में, जो न बोलचाल की भाषा है, न लिखने-पढ़ने की। इसका प्रमाण निम्न लिखित

"या जहाँ पर हर्ष का आलोक उज्ज्वल जगमगा,
अब भयंकर शोक का ताण्डव वहाँ होने लगा।"

सज्जनो, हर्ष के आलोक के बाद शोक का अंधकार होना उचित है या तांडव? हर्ष का तांडव हो भी सकता है; पर शोक का नाच खड़ी बोलीवालों की शायद नई उद्भावना है!

यह तो हुई भाव की भव्यता? अब भाषा का भोलापन भी देख लीजिए—

"स्वागत सखे! आओ सखे! हम तुम परस्पर बाल हैं;
निज मातृभूमि-स्वदेश के गोदी भरे हम लाल हैं।"

हम-तुम परस्पर मित्र हो सकते हैं, पर परस्पर बाल नहीं; क्योंकि 'परस्पर बाल' का अर्थ है हम तुम्हारे बालक और तुम हमारे बालक। पर यहाँ कवि का भाव ऐसा नहीं है।

खड़ी बोली के दो कवियों की चाशनी तो चखा चुका। अब तीसरे की चखिए—

"कपट हमें चंपा सम लागै, घूँसा फूल हजारा है;
लात लात मुख बात न बोलै, अटल मौन विस्तारा है।
धम्-धम्-धम् दस-पाँच करै जब गरदे गदा प्रहारा है;
चढ़े पैंग भरि तब कहुँ देखो सहनशील हम धारा है।"

'सहनशील हम धारा है' या 'सहनशीलता हमने धारी है'! खड़ी बोलीवालों की एक नई उपज और सुन लीजिए। वे कहते हैं "वीर-रस की कविताओं में कानों को कोंचनेवाली परुष पदावली होने से हृदय उत्तेजित नहीं होता"। तो क्या कोमल-

"नदत्याकाशगंगायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे"

लिखकर अपने काव्य-कौशल का पूर्ण परिचय दिया है। शब्दों के उच्चारण से ही आकाशगंगा के घोर-कठोर कल-कल कानों में गूँजने लगते हैं।

इसी प्रकार अँगरेज़ी के महाकवि मिल्टन ने भी अपने 'पैराडाइज़ लॉस्ट' ( Paradise Lost )-नामक महाकाव्य Chaos (केऑस) की भयंकरता दिखलाने के लिये लिखा है

"* * * * the dreaded na
of Demogorgon; * * *" इत्यादि।

इन भयंकर शब्दों से वहाँ की भयंकरता आप ही प्रकट जाती है—कवि को कुछ कहने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

वीर-रस के प्रधान आचार्य हिंदी के सुकवि 'भूषण' एक 'अमृतध्वनि' भी सुन लीजिए—

"गतबल खान दलेल हुअ, खान बहादुर मुद्ध;
सिव सरजा सलहेरि ढिग, क्रुद्धदरि किय जुद्ध।
क्रुद्धदरि किय जुद्धदरि अरि अद्धदरि करि;
मुंड्डरि तहँ रुंड्डकरत डुँड्डुग भरि।
खेदिद्दवर छेदिद्दय करि मेद्दधि दल,
जंग्गति सुनि रंग्गलि अवरंग्गत बल।"

खड़ी बोली के आचार्य तो इसमें फ़ालतू 'वाह्याडंबर, टोप कृत्रिमता' के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखते; प देखता हूँ कि रणभूमि का यह उपयुक्त वर्णन है। जब . .

कांत पदावली से होगा! कभी नहीं। वीर-रस की कविताओं में कोमल-कांत पदावली अस्वाभाविक ही नहीं, अनुचित भी है। इससे हृदय उत्तेजित होने के बदले कुंठित हो जाता है। जिस समय सैनिक रणभूमि को जाते हैं, उस समय उनका उत्साह बढ़ाने के लिये हारमोनियम या बीन नहीं बजाई जाती, और न ठुमरी-टप्पे ही गाए जाते हैं, बल्कि जुझाऊ बाजे बजते और वीर-रस-भरे कड़खे गाए जाते हैं। इससे योद्धाओं का उत्साह बढ़ता है, और वे जान-बूझकर जान देने के लिये आ बढ़ते हैं। उस समय उन्हें कोमल-कांत पदावली सुनाई जाए तो वे लोग कभी मरने-मारने को तैयार न होंगे।

जो स्वाभाविक कवि हैं, वे देश-काल-पात्र के अनुसार ही भाषा का प्रयोग करते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी रामायण के युद्ध-वर्णन में परुष पदावली का ही प्रयोग किया है। यथा—

> "भये क्रुद्ध जुद्ध विरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे;
> कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे।"
>
> इत्यादि।

अगर यहाँ 'कंकन-किंकिन-नूपुर-धुनि सुनि' की-सी कोमल-कांत पदावली होती, तो क्या इसमें यह ओज आ सकता था! कदापि नहीं।

हिंदी ही नहीं, अन्यान्य भाषाओं में भी ऐसा ही होता है। कवि-कुल-कंठाभरण कालिदास ने 'रघुवंश' में

"नदस्याकाशगंगायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे"
लिखकर अपने काव्य-कौशल का पूर्ण परिचय दिया है। इन शब्दों के उच्चारण से ही आकाशगंगा के घोर-कठोर कल-कल-रव कानों में गूँजने लगते हैं।

इसी प्रकार अँगरेजी के महाकवि मिल्टन ने भी अपने 'पैरेडाइज़ लॉस्ट' ( Paradise Lost )-नामक महाकाव्य में Chaos (केऑस) की भयंकरता दिखलाने के लिये लिखा है—

"* * * * the dreaded name
of Demogorgon; * * *" इत्यादि।

इन भयंकर शब्दों से वहाँ की भयंकरता आप ही प्रकट हो जाती है—कवि को कुछ कहने की जरूरत नहीं पड़ती।

वीर-रस के प्रधान आचार्य हिंदी के सुकवि 'भूषण' की एक 'अमृतध्वनि' भी सुन लीजिए—

"गतबल खान दलेल हुअ, खान बहादुर मुद्ध;
सिव सरजा सलहेरि ढिग, क्रुद्धदरि किय जुद्ध।
क्रुद्धदरि किय उद्धदरि अरि मद्धदरि करि;
मुंड्डरि तहँ रुंड्डुकरत ढूँड्डुग भरि।
खेदिद्दवर छेदिद्दय करि मेदद्धिय दल;
जंगम्मति सुनि रंगग्गलि अवरंगम्मत बल।"

खड़ी बोली के आचार्य तो इसमें फ़ालतू 'वाग्आडंबर, दोष कृत्रिमता' के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखते; पर देखता हूँ कि रणभूमि का यह उपयुक्त वर्णन है। जब यह

इन खुले शब्दों में कैसा व्यंग्य भरा हुआ है। सुनते ही दिल
लोट-पोट हो जाता है। एक और सुनिए—

"क़दमे-शौक़ बढ़े इनकी तरफ़ क्या अकबर;
दिल से मिलते नहीं यह हाथ मिलानेवाले।"

हाथ मिलानेवालों पर क्या अच्छी चोट है। बस, एक और

"अपने मनसूबे तरक्की के हुए सब पायमाल;
बीज जो मग़रिब में बोया, वह उगा और फल गया।
बूट डासन ने बनाया, मैंने एक मज़मूँ लिखा;
हिंद में मज़मूँ न फैला, और जूता चल गया।"

कैसे मार्के की बात, कैसे अच्छे ढंग से, कही गई है। समझने-
वालों की बस मौन है।

बात यह है कि स्वाभाविक और प्रतिभाशाली कवि के लिये
जैसी खड़ी बोली, वैसी व्रजभाषा। वह चाहे जिसमें अच्छी
कविता कर सकता है। कहा भी है—

"भाव अनूठो चाहिए, भाषा कोऊ होय।"

पर कोई भाषा तो हो। या वह भी नहीं! भाषा की शुद्धता
सबसे पहले, पीछे भाव की भावना। भाव सुंदर होने पर भी
यदि भाषा अशुद्ध है, तो कभी भावना अच्छी न होगी। कविता
और कामिनी में बड़ा सादृश्य है। जिस स्त्री की नाक चिपटी,
आँखें छोटी-बड़ी और दाँत बड़े-बड़े हैं, वह वसन-भूषण से
सजने और सुंदर स्वभाववाली होने पर भी मन को मुग्ध नहीं
कर सकती। जिसका सुंदर सुरूप है, अंग-प्रत्यंग सुगठित हैं

सुर से गाई जायगी, तब भीरु कापुरुषों की नस-नस में वीरत
की बिजली चमके बिना न रहेगी। उत्तेजना के लिये तो यह
'अमृतधारा' से बढ़कर है।

यही भूषण शिवाजी के प्रबल प्रताप का वर्णन, देखिए, कैसी
सुंदर और सरल भाषा में करते हैं—

"ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी,
ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं;
कंदमूल भोग करैं, कंदमूल भोग करैं,
तीन बेर खातीं, ते वै तीन बेर खाती हैं।
भूषण सिथिल अंग, भूषन सिथिल अंग,
बिजन डुलातीं, ते वै बिजन डुलातीं हैं;
भूषण भनत सिवराज बीर तेरे त्रास,

ने अपने भाषण में कहा है—"अच्छा साहब, बेतुकी ही सही, पर कुछ कहिए तो। निरे शब्दाडंबर या कोरी तुकबंदी का नाम तो कविता नहीं है। कविता का प्राण जो रस है, उसकी कोई बूँद भी आपके इस प्याले में है या नहीं? आप जो कुछ पुकार रहे हैं, सो क्या पुरस्कार की प्रेरणा से शब्दों के गोले उगल रहे हैं या नासमझों की बेमानी 'वाह वा' के उभारने से यह कवित्व-प्रसव की वेदना सह रहे या सचमुच अंदरवाला कुछ कहने को बेताब कर रहा है? पिछली बात हो, तो शौक से कहिए, नहीं तो कृपा कर चुप रहिए। कविता में नक़ाली से काम नहीं चलता। जो कविता चोट खाए हुए दिल से नहीं निकलती, वह स्यापे की नायन का रोना है।" इत्यादि।

वास्तव में बात भी ऐसी ही है। वही कवि सफलता प्राप्त कर सकता है, जिसने मानव-जाति और विश्व-ब्रह्मांड का पूर्ण रूप से निरीक्षण किया है। कवियों के लिये भाषाधिकार और प्रकृति-निरीक्षण की बहुत बड़ी आवश्यकता है। परंतु प्रायः आधुनिक कवि इन बातों की परवा न कर काव्य-रचना करते हैं। इसी से वे कृतकार्य नहीं होते।

मैं कह चुका हूँ कि सत्यकवियों के लिये भाषाधिकार और प्रकृति-निरीक्षण की बड़ी आवश्यकता है। जो मानव-जाति और विश्व-ब्रह्मांड का निरीक्षण किए बिना काव्य-रचना करते हैं, वे भी कृतकार्य नहीं होते; क्योंकि निरीक्षण के अभाव से, रसार और भाषाधिकार के बिना नीरस हो जाती

वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, शेक्सपीयर, होमर, गेटे, दाँते प्रभृति महाकवियों की सफलता की कुंजी प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण और भाषाधिकार ही है। इनकी रचनाएँ नैसर्गिक भाव से परिपूर्ण हैं। जब तक भाषा पर अधिकार और प्रकृति-निरीक्षण पूर्ण न हो, तब तक किसी को रचना के फेर में न पड़ना चाहिए। अध्यापक उडहाउस (E. A. Wodehouse) अँगरेजी-साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं। उनकी भी यही सम्मति है। वह मदरास से निकलनेवाले 'शमा' नाम के मासिक पत्र में लिखते हैं—"सुंदर रचना का प्रयत्न कुछ दिनों तक छोड़ दो। जहाँ तक बने, पद्य-रचना का प्रयत्न भी बिलकुल ही छोड़ दो, और तुच्छ-से तुच्छ पदार्थ में जो तत्त्व गुप्त है, जिसका अस्पष्ट ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को है, और जिसे केवल सच्चा कवि ही शब्दों द्वारा प्रकट कर सकता है, उसे निकालने का अभ्यास उत्साह के साथ करो। उदाहरणार्थ—किसी वृक्षविशेष के संबंध में (वृक्ष-जाति के नहीं) तब तक कल्पना करते रहो, जब तक उस शब्द का पता न लग जाय, जो उसके लिये पूर्ण रूप से उपयुक्त है। किसी मित्र या परिचित व्यक्ति को ही लेकर उसके बारे में तब तक ध्यान-पूर्वक सोचते रहो, जब तक उसका [illegible]। वर्णन एक ही पूर्ण भाव-प्रकाशक वाक्य में न कर [illegible] गद्य का एक वाक्य पद्य के एक पद से [illegible], क्योंकि सत्य की खोज में इससे बढ़कर नहीं [illegible] सकती।"

तात्पर्य यह कि भाषाधिकार और प्रकृति-निरीक्षण के विना
व्य-रचना दुस्साहस-मात्र है।

मैं खड़ी बोली का विरोधी नहीं, और न ब्रजभाषा को
हिष्कृत ही करने का पक्षपाती हूँ; क्योंकि दोनों ही हिंदी के
ग हैं। ब्रजभाषा का बहिष्कार करने से हिंदी के प्राचीन
व्य-भांडार से हाथ धोना पड़ेगा। इसके सिवा इसमें जो रस,
साहित्य, जो सौंदर्य और जो माधुर्य है, वह खड़ी बोली को
भी तक प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं हुआ है। हमारे पूर्व-
यों ने संस्कृत-साहित्य का सार खींचकर ब्रजभाषा में भर
या है। यह मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि संस्कृत से
कली हुई जितनी भाषाएँ हैं, उनमें हिंदी ही अपने प्राचीन
हित्य के कारण सर्वश्रेष्ठ है। अपने कथन की पुष्टि में पुरातत्त्व-
परलोकवासी डॉक्टर राजेंद्रलाल मित्र की उक्ति उद्धृत कर
हूँ। मित्र महोदय 'इंडो एरियंस' (Indo Aryans)
की पुस्तक में लिखते हैं—"हिंदुओं में सबसे अधिक
लोगों की भाषा हिंदी है। इसके इतिहास का पता हजार
तक लगता है। तेलगू-भाषा को छोड़ भारत की और सभी
धुनिक भाषाओं से इसका साहित्य-भांडार अधिक संपन्न तथा
त है।"

इसके सिवा एक बात और है। स्वर्गवासी सत्यनारायणजी के
नानुसार जिस भाषा में

"बरननि को करि सकै भला तिहि भाषा कोटी;

मचलि-मचलि जामें माँगी हरि माखन-रोटी।"

उसे तिरस्कृत और बहिष्कृत करना क्या उचित है? और कुछ न सही, तो भगवान कृष्णचंद्र के मुलाहजे से ही व्रजभाषा पर कम-से-कम गालियों की गोलियाँ तो न चलानी चाहिए।

खड़ी बोली के प्रेमी खड़ी बोली में कविता करना चाहते हैं, तो शौक़ से करें। उन्हें कोई रोकता नहीं, पर वे व्रजभाषावालों को क्यों कोसते-काटते हैं? क्या इसके बिना खड़ी बोली खड़ी नहीं हो सकती? यदि खड़ी बोली की कविता अच्छी होगी, तो लोग उसे ख़ुद चाव से पढ़ेंगे। अच्छी न होगी, तो क्या व्रजभाषा को बुरा-भला कहने से वह अच्छी हो जायगी? दूसरों का दोष दिखाने के बदले अपना दोष दूर करना क्या उचित नहीं है? क्या मैं आशा करूँ कि मेरी विनय विफल न होगी!

कानपुर के श्रीयुत वेणीमाधव खन्नाजी ने हिंदी के कवियों को पुरस्कार देने का सिलसिला शुरू कर अच्छा काम किया है। उनका यह उद्योग प्रशंसनीय है। परंतु उनकी उदारता का दुरुपयोग होता देख दुःख होता है। कविता के परीक्षकों को सदा स्मरण रखना चाहिए कि उपयुक्त कविताओं पर पुरस्कार प्रदान करने से ही खन्नाजी की तमन्ना पूरी हो सकती है, अन्यथा नहीं।

## शिक्षा

सज्जनो, हमारी शिक्षा का साधन क्या है, शिक्षा की शैली कैसी है, उसका परिणाम क्या है, आदि विषयों पर अब कुछ

निवेदन करता हूँ। देशी भाषा ही शिक्षा का स्वाभाविक साधन है। इसी सर्ववादि-सम्मत नियम के अनुसार इँगलैंड में अँगरेज़ी, जर्मनी में जर्मन और जापान में जापानी भाषा द्वारा शिक्षा दी जाती है; पर हिंदुस्तान का बाबा आदम ही निराला है। हिंदुस्थानियों की शिक्षा-दीक्षा अँगरेज़ी-भाषा द्वारा होती है; क्योंकि यह राजभाषा है। राजभाषा सीखने की बड़ी आवश्यकता है; क्योंकि उसके बिना हम सांसारिक व्यवहार सुगमता से आजकल नहीं कर सकते, और न आधुनिक राजनीति ही समझ सकते हैं। पर उसके अध्ययन में जनता को समय नष्ट करने की क्या आवश्यकता है? क्या देश में देशी भाषा का अभाव है? नहीं। फिर इस अस्वाभाविक आचरण का कारण क्या है? इसका एकमात्र कारण स्वराज का अभाव ही है। स्वराज के बिना न शिक्षा-शैली का संस्कार, और न मातृभाषा का उद्धार हो सकता है। अतएव साहित्यिक दृष्टि से भी स्वराज की अत्यधिक आवश्यकता है।

मैं निवेदन कर चुका हूँ कि हमारी शिक्षा-दीक्षा अँगरेज़ी भाषा द्वारा होती है। अँगरेज़ी बड़ी कठिन भाषा है। इसमें अक्षरों का अभाव, वर्ण-विन्यास का व्यतिक्रम, और उच्चारण की उच्छृंखलता पूर्ण रूप से है। यदि उदाहरण-सहित इन सब बातों का वर्णन किया जाय, तो बड़ा पोथा बन जायगा। इसलिये संक्षेप में ही कुछ सुना देता हूँ। पहले वर्णमाला को ही लीजिए। यह अपूर्ण और क्रम-हीन है। इसमें स्वाभाविकता का नाम तक नहीं

है। एक ही अक्षर को कई अक्षरों के काम करने पड़ते हैं। न तो ई का ठिकाना और न य का पता; पर A [ए] के बाद B [बी] विराज रही है। स्वर के बिना व्यंजन का उच्चारण नहीं होता, यह सब कोई जानते और मानते हैं। न ई की सृष्टि हुई, और न य की। फिर दोनो का संबंध कैसे हो गया! क्या यह आश्चर्य की बात नहीं! अँगरेजी-वर्णमाला में ऐसी-ऐसी बहुतेरी अद्भुत बातें हैं, जिनका वर्णन करना असंभव है। पर हमारे नागरी-अक्षर ऐसे नहीं हैं। वे सीधे-सादे और पूरे हैं। प्रत्येक अक्षर की एक विशेष ध्वनि है। उच्चारण के अनुसार ही उनका क्रम है। ये वैज्ञानिक रीति से बने हैं, इसलिये सहज ही सीखे जा सकते हैं। पर तो भी रेवरेंड जे० नोल्स भारत की राष्ट्रलिपि नागरी-अक्षरों के बदले रोमन को ही बनाया चाहते हैं!

अब वर्ण-विन्यास के व्यतिक्रम और उच्चारण की उच्छृंखलता सुनिए। s, i, r = sir सर, और p, i, g = pig। ये pig, sir ही इसके नमूने हैं। C (सी) के उच्चारण में बड़ी आफत है। कहीं तो यह 'क' का काम देती है, और कहीं 'स' का। इस एक ही शब्द Circumference में c (सी) ने दोनो रूप धारण किए हैं। अगर कहा जाय कि शब्द के आरंभ में सी का उच्चारण 'स'-सा और मध्य में 'क'-सा होता है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि हमारे Calcutta में ऐसा नहीं होता है। यहाँ आदि और मध्य, दोनो जगह सी ने 'के' का काम किया है।

और काशी पर 'के' की ही कृपा है। नोल्स [ knowles ] में ( k ) खासी करवट ले गया है, डबल्यु ( w ) डर गया अ ई ( e ) बेचारी तो बे मौत मर गई है। यह वही नोल्स हैं, भारत में रोमन लिपि चलाने की चेष्टा कर रहे हैं! नोल्स नाम का रोमन में यह परिणाम है, तो उसका काम कैसा होग यह आप लोग स्वयं सोच लें। जब इन अक्षरों का उच्चारण नहीं होता, तो इन्हें इन शब्दों में घसीटने की जरूरत!

तात्पर्य कहने का यह कि जो भाषा हमारी आत्मा के, हम शारीरिक संगठन के पूर्ण रूप से प्रतिकूल है, उसे एक मनु नहीं, एक जाति नहीं, सारा देश-का-देश ग्रहण कर बैठा है राष्ट्रीयता का जैसा चिह्न परिच्छद है, वैसे ही भाषा भी है। जि देश की जैसी जलवायु होती है, वहाँ की पोशाक भी वैसी होती है! भाषा की भी यही बात है। शरीर और मुख की बन वट से भाषा का गहरा संबंध है। मनुष्य-जाति का संगठन दे काल-पात्र के अनुसार होता है। इसी से सब जातियों का चा चलन एक-सा नहीं—जैसा देश, वैसा वेष। भाषा भी देश अनुसार ही बनती है। इनकी बनानेवाली प्रकृति-देवी (Natur है। वह एक दिन में नहीं, कई युगों में देश की जलवायु के अ कूल वेष और भाषा बना देती है! किसी की खाल खींचना उ जान से मार डालना है। उस पर दूसरे की खाल चढ़ाना अ भव है। एक जाति की पोशाक छीनकर दूसरे को पहना दे संभव है; पर इसका परिणाम भी वही है। भाषा के बारे में

वही बात है। गर्म मुल्कवाले ढीला-ढाला, महीन कुरता पहनते, और सर्द मुल्कवाले काला, मोटा, चुस्त कोट। उत्तरी ध्रुव के निवासी मलमल का ढीला-ढाला कुरता पहने, तो जाड़े से जकड़ जाय, और सहरावासी मोटा, ऊनी कोट पहने, तो वह गर्मी से घबरा जाय। हमारे स्वास्थ्य और शरीर के लिये विदेशी परिच्छद जितना हानिकारक है, मानसिक शक्ति के लिये विदेशी भाषा भी उतनी ही है। जो भाषा हमारी आत्मा के, हमारे मानसिक और शारीरिक गठन के, हमारे भावों और विचारों के विरुद्ध विपरीत है, उसे दबाव और लालच में पड़कर ग्रहण करना कैसा भयानक कार्य है।

दुधमुँहे बच्चों को विदेशी भाषा पढ़ने के लिये लाचार करना बड़ा अन्याय है। आजकल हमारी जैसी अवस्था है, उसमें हमें अँगरेज़ी-भाषा सीखने की बड़ी ज़रूरत है। उसके बिना हम कुछ नहीं कर सकते, पर उसके अध्ययन की आवश्यकता नहीं। भाषा-तत्त्व-विद् भले ही अध्ययन करें; पर सब इसके लिये परिश्रम क्यों करें? इसमें जो अच्छे विषय हैं। उन्हें सीखना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए—कुछ भाषा की बारीकियाँ नहीं। फिर क्यों सब कोई अपना समय, स्वास्थ्य और शक्ति अँगरेज़ी भाषा के अध्ययन में नष्ट करते हैं? किसी भाषा के सीखने में समय लगाना उसे वृथा खोना है, भाषा का ज्ञान तो विषय के साध्य-मात्र होता है। जो विषय के बिना भाषा सीखते हैं, वे कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिये साहब की तरह

है कि भाषा सीखने में समय नष्ट करना अनुचित है। वह कहते हैं कि लड़कियाँ कपड़े पहनने में जैसे समय खराब करती हैं, वैसे ही लड़के भाषा सीखने में करते हैं। पर अफ़सोस! इस अभागे देश की दशा ही विचित्र है। यूनिवर्सिटियाँ हमें उच्च श्रेणी की प्राचीन अँगरेज़ी पढ़ाने के लिये क़सम खाकर बैठी हैं। नतीजा चाहे कुछ हो, पर वे ज़बरदस्ती सड़ी-गली चीज़ें हमारे गले में ठूँसेंगी। यूनिवर्सिटियाँ ऐसी भाषा सिखाती हैं, जिसके न कुछ मानी हैं, और न मतलब। उससे हमारी मानसिक शक्ति पर इतना ज़ोर पहुँचता है कि वह नाश न होती हो, तो बिगड़ ज़रूर जाती है। तोते की तरह हम रटाए जाते हैं, और उसी तरह हम बोलते भी हैं।

सज्जनो, भारतवासियों को अँगरेज़ी के वास्ते इतना श्रम न करना चाहिए। उनके लिये वह अस्वाभाविक है। शीत-प्रधान देशवालों की बनावट उष्ण-प्रधान देशवालों से नहीं मिलती। सर्दी उत्तेजित करती है, और गर्मी दबाती है। सर्दी से फुर्ती आती है, और गर्मी से सुस्ती। सर्दी नसें जकड़ती है, और गर्मी उन्हें ढीली करती है। जब नसें तनी रहती हैं, तो आवाज़ ऊँची, तीखी और कर्कश निकलती है, और ढीली रहने से धीमी, नीची और भारी। पट्टों की तरह नसें भी गर्म मुल्कों में ढीली पड़ जाती हैं। गर्म देशवालों के चमड़े और ओंठ सर्द मुल्कवालों के चमड़े और ओठों से मोटे होते हैं। सीना तथा फेफड़ा छोटा होता है। जिनकी नसें मज़बूत और तनी

होती है, उनकी अलग् भाषा के कर्ता और [illegible]
है, पर जिनकी बनी होती है, उनकी अलग [illegible]
पैदा होती है। भाषा न [illegible] है और न उस[illegible]
पढ़ सकती है। इसलिये [illegible] सारी नकल कर[illegible]
है, पर अंगरेज़ भाषा पर [illegible] पर भी [illegible]
नकल नहीं कर सकते। वे बोलचाल को 'इंडियन' ही कहें
पर हमें नकल करने की क्या ज़रूरत है! हमें तो अंगरेज़ी
समझने में मतलब है, जिनसे [illegible] व्यापार करें।
अंगरेज़ी-साहित्य पढ़ना चाहें, वे मज़े में पढ़ सकते हैं।
सारा उसके लिये व्यापार करना अनुचित है।

सज्जनो, अंगरेज़ी-भाषा सीखनेवालों के लिये शब्दों की
व्युत्पत्ति, धातु, अर्थ व्यवहारादि आरंभ में व्याकरण से सीखने
की ज़रूरत नहीं। कानों से सुन और आँखों से देखकर सीखना
चाहिए। यहाँ के विश्वविद्यालयों में भाषा सिखाने का ढंग बिल्कुल
बेहूदा है। यहाँ ६ वर्षों में भाषा का ज्ञान होता है। वह भी कुछ
पर ऊपर कहे ढंग से ६ महीने में ही काम बन जाता है। एक अं
ने फ्रांसीसी भाषा सीखने के लिये उसका व्याकरण घोंट डा
कोष रट डाला, स्कूल में जाकर लेक्चर सुन डाला; पर फल कुछ
हुआ। उसकी एक साल की मेहनत यों ही गई। इसके बा
गए किताबें फेंक फ्रांसीसी बालकों की संगति में जा बैठा।
६ महीने में ही वह फ्रांसीसी-भाषा में बातचीत करने लग ग

के साथ रहकर मजे में अँगरेजी बोल लेते हैं। किसी देश की भाषा सीखने के लिये पहले कानों और आँखों का सहारा लीजिए। पीछे पुस्तकें पढ़िए। आप वह भाषा मजे में बोलने, समझने और लिखने लगेंगे। बस, इतना ही हमें चाहिए और इतना ही दरकार भी है।

पर हमारी दयालु युनिवर्सिटियाँ यह सब क्यों सोचने लगी? उन्हें तो शिक्षा देने से मतलब है। उसका फल चाहे कुछ ही हो। इन युनिवर्सिटियों की ओर देखकर अपने बच्चों की ओर देखता हूँ, तो कलेजा काँप जाता है। जिस भाषा द्वारा वे शिक्षा देती हैं; वह दुरूह है। शिक्षा-प्रणाली भी प्राण-घातिनी है। इस प्रणाली से मनुष्य की मानसिक शक्ति बढ़ने के बदले और घट जाती है। पढ़नेवालों पर पुस्तकों का इतना बोझ लाद दिया जाता है कि वे वहीं दब जाते हैं—शेर होने के बदले वे गीदड़ हो जाते हैं। मौलिकता तो उनमें रहती ही नहीं। रहे कहाँ से? प्रकृति-निरीक्षण का उन्हें समय ही नहीं मिलता। प्रकृति का ज्ञान पुस्तकों के द्वारा ही कराया जाता है। इसी से वे किताब के कीड़े बन जाते हैं। स्वर्गवासी भारतेंदु हरिश्चंद्र, पं० प्रताप-नारायण मिश्र, पं० माधवप्रसाद मिश्र, बाबू बालमुकुंद गुप्त, श्रद्धेय पं० बालकृष्ण भट्ट आदि जिन स्वनाम-धन्य पुरुषों का स्मरण हम श्रद्धा और प्रेम से करते हैं, वे अगर इन विश्वविद्यालयों का मुख देख लेते, तो शायद आज मुझे उनके शुभ नाम लेने का अवसर हाथ न लगता। यहाँ हिंदी का प्रसंग है,

इसलिये केवल हिंदी-लेखकों और कवियों के ही नाम लिए हैं। विस्तार-भय से भारत के अन्यान्य भाषा-भाषियों के नाम छोड़ दिए हैं। ये लोग पहली ही मंजिल से ठोकर खा लौट आए। इसी से बच गए। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि विश्वविद्यालय के सभी कृतविद्य अयोग्य है। यदि सौ में दो-चार योग्य हुए ही, तो उससे क्या? अधिकांश तो निकम्मे ही निकलते हैं। इसलिये कहना यह है कि जो जिस प्रांत का है, उसकी प्रारंभिक शिक्षा उसी प्रांत की भाषा में हो, पर साधारण शिक्षा अँगरेजी के बदले राष्ट्रभाषा हिंदी में हो। अँगरेजी दूसरी भाषा के स्थान पर रहे। फ्रांस, जर्मनी, इँगलैंड और जापान की इतिहास जीवन-चरित्र, विज्ञान-शिल्प-कला-संबंधी अच्छी-अच्छी पुस्तकों का हिंदी में उल्था हो और वे ही पढ़ाई जायँ, तो हमारे देश की और हमारी भाषा की उन्नति हो सकती।

काशी में हिंदू-विश्वविद्यालय को बनते देख हिंदुओं में हिम्मत हुई थी; पर उसे हिंदी-हीन होते देख वे हताश हो गए। गांधीजी की आँधी आने पर भी मालवीयजी मौन ही रह गए थे। अब वहाँ शिक्षा का साधन (माध्यम!) हिंदी होना असंभव ही है।

धन्यवाद है पंडित हृदयनाथ कुंजरू को, जिनकी चेष्टा से युक्तप्रांत की कौंसिल में मैट्रिक तक की शिक्षा देशी भाषा द्वारा देने के लिये स्कूल खोलने का निश्चय हुआ है। अवश्य ही यह अभी परीक्षार्थ है।

सज्जनो, जिस अंगरेज़ी-शिक्षा-दीक्षा से देश दुर्दशा-ग्रस्त होता जाता है, वह पाश्चात्य सभ्यता-स्रोतस्विनी का एक स्रोतमात्र है, जिसके जल से आधुनिक भारत प्लावित हो रहा है। इस सभ्यता के गुण-दोष जितने साधनों से यहाँ पहुँचाए और फैलाए जा रहे हैं, उनमें अँगरेज़ी-साहित्य ही प्रधान है। इस साहित्य के कलुषित अंश के संसर्ग से देश को बचाने की चेष्टा करना देश और जाति के शुभचिंतकों का धर्म है। कोई विदेशी यात्री ही सुदूर पश्चिम से प्लेग के कीड़े यहाँ लाया, जिनसे लाखों नहीं, करोड़ों मनुष्य प्रतिवर्ष काल के गाल में गए, और जाते हैं। क्या हमें नैतिक रोगों को उत्पन्न करनेवाले उन असंख्य कीटाणुओं की खबर है, जिन्हें विदेशी साहित्य दृश्य और अदृश्य रूप से अपने साथ रोज़ ही यहाँ ला और फैला रहा है? मैं स्वीकार करता हूँ कि इसके प्रचार को रोकना दुष्कर कर्म है। किसी खास रंग या जाति के विदेशी किसी देश में आने से रोके जा सकते हैं—विदेशी वस्तुओं की आमदनी भी बात-की-बात में रोकी जा सकती है। पर कोई देश कभी हानिकारक साहित्य का प्रवेश निषेध करने में पूर्ण रूप से सफल हो चुका है, यह सुनना बाक़ी है। क्या क़ानून में ऐसी ताक़त नहीं? वायरलेस के 'फ़िल्म' तक रोके जा सकते हैं, तो पत्रों और पुस्तकों का रोका जाना क्या संभव नहीं? मैं समझता हूँ, नहीं है। इसी से ऐसे साहित्य के प्रचार के नियंत्रण या निषेध की उपयोगिता और आवश्यकता सभी स्वीकार करते हैं; परंतु आज तक इसमें कोई कृतकार्य नहीं हो सका।

देखा गया है कि जिन पत्रों या पुस्तकों का प्रचार सरकार अपने हक में बुरा समझती है, उन्हें तो वह आने से रोक देती है; पर क्या इससे उसकी अभीष्ट-सिद्धि हो गई ! 'डेली हेरल्ड' नहीं आता; पर संवाददाता अपने पत्रों को उसके अवतरण बराबर भेजा करते हैं। दूसरे पत्र उसकी सम्मतियाँ उद्धृत किया ही करते हैं। सभी पत्रों का आना बंद कर देना सरकार के लिये भी असंभव है। इस एक उदाहरण से आप समझ सकेंगे कि राष्ट्र की दृष्टि से किसी पत्र या पुस्तक के विचार उसके लिये अत्यंत हानिकर होने पर भी उसका आना रोक नहीं सकता। पहले तो उसका पता लगाना ही असंभव है। नित्य नई पुस्तकें हजारों-लाखों की संख्या में निकलती हैं। इसका निर्णय ही भला कौन कर सकता है कि किसके विचारों का जनता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। दूसरे यदि यह फ़ैसला हो भी जाय, तो उन विचारों के सभी प्रवेश-मार्ग कभी बंद नहीं किए जा सकते। सच तो यह है कि यह कार्य किसी परीक्षक-मंडली पर छोड़ा भी नहीं जा सकता। परीक्षकों के रहते भी अश्लील-से-अश्लील 'फ़िल्म' दिखाए ही जा रहे हैं। दर्शकों के चरित्र पर उनका बुरा प्रभाव पड़ ही रहा है। गुण-दोष के निर्णय के लिये और विषयों की तरह लिखने-पढ़ने में भी स्वतंत्रता रहनी चाहिए। परंतु साथ ही पाठकों की रुचि परिमार्जित करने का भी पूरा प्रयत्न करना होगा। पाश्चात्य साहित्य-क्षेत्र में मंद-मरीचिका का अभाव नहीं। इसका भयंकर परिणाम भी सब-

पना होगा। सन्मार्ग-प्रदर्शन में यदि सफलता तत्काल न भी हो, तो भी उससे पीछे पैर न देना चाहिए। यह मैं कहता हूँ कि तरह-तरह के कुसंस्कार और बुरीतियाँ, दोष और कल्मष विदेशी साहित्य के अध्ययन से धीरे-धीरे हमारे जीवन में प्रवेश करते जाते हैं। यदि जीवन को उन्नत बनाना ही साहित्य का प्रधान लक्ष्य है, तो हम साहित्य-सेवियों का भी कर्तव्य है कि जनता को विदेशी साहित्य के नीर-क्षीर की पहचान बतलावें, और यह कर्तव्य-संपादन करते समय गीता का यह वाक्य स्मरण रक्खें 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

नशे का नतीजा हाथोंहाथ मिलता है, पर तो भी वह नहीं छूटता। यदि शारीरिक क्षति पहुँचानेवाले मादकों का त्याग मनुष्य के लिये कठिन हो सकता है, तो जिन मादकों से मानसिक अधःपात होता है, उनका तो कहना ही क्या! 'टेंपरेंस सोसाइटियाँ' अपना काम कर नहीं करतीं। फिर हम ही क्यों करें! संभव है, वर्तमान क्रिया का फल भविष्य के गर्भ में गुप्त हो।

अवश्य ही कोई समझदार यह कहने का साहस या धृष्टता न करेगा कि सारा पाश्चात्य साहित्य ही कलुषित है। गुणों के बिना पाश्चात्य जातियों का यह उत्कर्ष असंभव था। उन गुणों का प्रतिबिंब उनके साहित्य-पटल पर अंकित हुए बिना न रह सकता था। सज्जनो, मैं उन लोगों में नहीं, जो समझते हैं कि भारतीय राष्ट्र का निर्माण पाश्चात्य काव्य-इतिहास के पठन-पाठन

देखा गया है कि जिन पत्रों या पुस्तकों का प्रचार सरकार अपने हक में बुरा समझती है, उन्हें तो वह आने से रोक देती है; पर क्या इससे उसकी अभीष्ट-सिद्धि हो गई ! 'डेली हेरल्ड' नहीं आता; पर संवाददाता अपने पत्रों को उसके कतरन बराबर भेजा करते हैं। दूसरे पत्र उसकी सम्मतियाँ उद्धृत किया ही करते हैं। सभी पत्रों का आना बंद कर देना सरकार के लिये भी असंभव है। इस एक उदाहरण से आप समझ सकेंगे कि राष्ट्र की दृष्टि से किसी पत्र या पुस्तक के विचार उसके लिये अत्यंत हानिकर होने पर भी उसका आना रोक नहीं सकता। पहले तो उसका पता लगाना ही असंभव है। नित्य नई पुस्तकें हजारों-लाखों की संख्या में निकलती हैं। इसका निर्णय ही भला कौन कर सकता है कि किसके विचारों का जनता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। दूसरे यदि यह फ़ैसला हो भी जाय, तो उन विचारों के सभी प्रवेश-मार्ग कभी बंद नहीं किए जा सकते। सच तो यह है कि यह कार्य किसी परीक्षक-मंडली पर छोड़ा भी नहीं जा सकता। परीक्षकों के रहते भी अश्लील-से अश्लील 'फ़िल्म' दिखाए ही जा रहे हैं। दर्शकों के चरित्र पर उनका बुरा प्रभाव पड़ ही रहा है। गुण-दोष के निर्णय के लिये और विषयों की तरह लिखने-पढ़ने में भी स्वतंत्रता रहनी चाहिए। परंतु साथ ही पाठकों की रुचि परिमार्जित करने का भी पूरा प्रयत्न करना होगा। पाश्चात्य साहित्य-क्षेत्र में मोर-सलीसिका का अभाव नहीं। इसका भयंकर परिणाम भी नग-

करना होगा। सन्मार्ग-प्रदर्शन में यदि सफलता तत्काल न भी हो, तो भी उससे पीछे पैर न देना चाहिए। यह मैं कहता हूँ कि तरह-तरह के कुसंस्कार और कुरीतियाँ, दोष और कल्मष विदेशी साहित्य के अध्ययन से धीरे-धीरे हमारे जीवन में प्रवेश करते जाते हैं। यदि जीवन को उन्नत बनाना ही साहित्य का प्रधान लक्ष्य है, तो हम साहित्य-सेवियों का भी कर्तव्य है कि जनता को विदेशी साहित्य के नीर-क्षीर की पहचान बतलावें, और यह कर्तव्य-संपादन करते समय गीता का यह वाक्य स्मरण रक्खें 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

नशे का नतीजा हाथोंहाथ मिलता है, पर तो भी वह नहीं छूटता। यदि शारीरिक क्षति पहुँचानेवाले मादकों का त्याग मनुष्य के लिये कठिन हो सकता है, तो जिन मादकों से मानसिक अधःपात होता है, उनका तो कहना ही क्या! 'टेंपरेंस सोसाइटियाँ' अपना काम बंद नहीं करतीं। फिर हम ही क्यों करें! संभव है, वर्तमान क्रिया का फल भविष्य के गर्भ में गुप्त हो।

अवश्य ही कोई समझदार यह कहने का साहस या धृष्टता न करेगा कि सारा पाश्चात्य साहित्य ही कलुषित है। गुणों के बिना पाश्चात्य जातियों का यह उत्कर्ष असंभव था। उन गुणों का प्रतिबिंब उनके साहित्य-पटल पर अटल हुए बिना न रह सकता था। सज्जनो, मैं उन लोगों में नहीं, जो समझते हैं कि भारतीय राष्ट्र का निर्माण पाश्चात्य काव्य-इतिहास के पठन-पाठ

देखा जाता है कि जिन पत्रों या पुस्तकों का प्रचार सरकार अपने हक में बुरा मानती है, उन्हें तो वह आने से रोक देती है; पर क्या इससे उसकी अभीष्ट-सिद्धि हो गई ! 'डेली हेराल्ड' नहीं आता; पर संपादक अपने पत्रों को उसके बराबर बराबर भेजा करते हैं। दूसरे पत्र उसकी सम्मतियाँ उद्धृत किया ही करते हैं। सभी पत्रों का आना बंद कर देना सरकार के लिये भी असंभव है। इस एक उदाहरण से आप समझ सकेंगे कि राष्ट्र की दृष्टि से किसी पत्र या पुस्तक के विचार उसके लिये अत्यंत हानिकर होने पर भी उसका आना रोक नहीं सकता। पहले तो उसका पता लगाना ही असंभव है। नित्य नई पुस्तकें हजारों-लाखों की संख्या में निकलती हैं। इसका निर्णय ही भला कौन कर सकता है कि किसके विचारों का जनता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। दूसरे यदि यह फैसला हो भी जाय, तो उन विचारों के सभी प्रवेश-मार्ग कभी बंद नहीं किए जा सकते। सच तो यह है कि यह कार्य किसी परीक्षक-मंडली पर छोड़ा भी नहीं जा सकता। परीक्षकों के रहते भी अश्लील-से-अश्लील 'फ़िल्म' दिखाए ही जा रहे हैं। दर्शकों के चरित्र पर उनका बुरा प्रभाव पड़ ही रहा है। गुण-दोष के निर्णय ... और विषयों की तरह लिखने-पढ़ने में भी ... चाहिए। परंतु साथ ही पाठकों को ... भी पूरा प्रयत्न करना होगा।

करना होगा। सन्मार्ग-प्रदर्शन में यदि सफलता तत्काल न भी हो, तो भी उससे पीछे पैर न देना चाहिए। यह मैं कहता हूँ कि तरह-तरह के कुसंस्कार और कुरीतियाँ, दोष और कल्मष विदेशी साहित्य के अध्ययन से धीरे-धीरे हमारे जीवन में प्रवेश करते जाते हैं। यदि जीवन को उन्नत बनाना ही साहित्य का प्रधान लक्ष्य है, तो हम साहित्य-सेवियों का भी कर्तव्य है कि जनता को विदेशी साहित्य के नीर-क्षीर की पहचान बतलावें, और यह कर्तव्य-संपादन करते समय गीता का यह वाक्य स्मरण रक्खें 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

नशे का नतीजा हाथोंहाथ मिलता है, पर तो भी वह नहीं छूटता। यदि शारीरिक क्षति पहुँचानेवाले मादकों का त्याग मनुष्य के लिये कठिन हो सकता है, तो जिन मादकों से मानसिक अधःपात होता है, उनका तो कहना ही क्या! 'टेंपरेंस सोसाइटियाँ' अपना काम बंद नहीं करतीं। फिर हम ही क्यों करें! संभव है, वर्तमान क्रिया का फल भविष्य के गर्भ में गुप्त हो।

अवश्य ही कोई समझदार यह कहने का साहस या धृष्टता न करेगा कि सारा पाश्चात्य साहित्य ही कलुषित है। गुणों के बिना पाश्चात्य जातियों का यह उत्कर्ष असंभव था। उन गुणों का प्रतिबिंब उनके साहित्य-पटल पर अटल हुए बिना न रह सकता था। सज्जनो, मैं उन लोगों में नहीं, जो समझते हैं कि भारतीय राष्ट्र का निर्माण पाश्चात्य काव्य-इतिहास के पठन-पाठन

पर ही अवलंबित है। मैं न तो वि
हूँ, और न विदेशी भाषाओं का ही। म
मैं जितनी दूर मैं देख सकता हूँ, मुझ
नहीं देता, जब जनता के लिये विदे
पूजा हितकारक कही जा सके। फिर
रत्नाकर में डुबकियाँ लगा जनता के हित के
प्रस्ताव करता हूँ। पर भूलकर भी यह सला
कि जनता या उसका कोई बड़ा अंश यो
काम अल्प-संख्यक विद्वानों का है। वही वि
कर से रत्न निकालकर मातृभाषा का भांडार
तीर्थों से सलिल संग्रह कर अपने साहित्य-क्षे
और यथा स्थान सिक्त किया करे।

ऐसे सभी तीर्थ-यात्रियों के लिये एक पथ निर्
सकता; प्रत्येक को अपना लक्ष्य और अपना
र करना होगा। उनका अपनी मातृभाषा और
यही कर्तव्य होगा कि वे चाहे जहाँ से लावें,—
स्वच्छ जल लावें। वह स्रोतस्वती के बीच का हो
रे का न हो। पूर्व और पश्चिम की आवश्यकता
, उसका उन्हें

कहना है कि साहित्य की सर्वांगीण उन्नति का अभिमान कोई एक भाषा नहीं कर सकती। किपलिंग ने छोटी-छोटी कहानियाँ लिखी हैं, और महात्मा टॉलस्टॉय ने भी लिखी हैं। किपलिंग अँगरेज़ हैं, और इसी देश से उनके अधिकांश काव्य-कृति का संबंध है। पर जिन लोगों ने महात्मा टॉलस्टॉय की कहानियों का हिंदी-अनुवाद पढ़ा है, उनसे, किपलिंग का प्रत्येक पाठक कह सकता है कि जो उपकार रूसी भाषा से इस देश को पहुँचा है, वह अँगरेज़ी से पहुँचने का नहीं। यह दूसरी बात है कि रूसी लेखक के विचारों का रसास्वादन हमें अँगरेज़ी-अनुवाद के कारण ही हुआ है। तात्पर्य यह कि पाश्चात्य साहित्य से हम केवल अँगरेज़ी-साहित्य ही न समझें, और किपलिंग से निराश होने पर उस साहित्य-मात्र से निराश न हो जायँ। फिर पाश्चात्य संसार में परिवर्तन भी बड़े वेग से हो रहा है। अँगरेज़ी में ही देखिए, पुराने और आधुनिक कवियों के सुर में कितना भेद है! अवश्य ही नए श्रीधर पाठक और नए 'रत्नाकर' को नई दिशाओं में यात्रा करनी होगी,—नए आदर्श हमारे सामने रखने होंगे।

फिर मैं स्पष्ट रूप से कह देना उचित समझता हूँ कि हमें पश्चिम से वस्तु के लाने की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी उसकी विधि के लाने और अपनाने की है। हमें उसके कार्य पर उतना ध्यान न देना चाहिए, जितना उसकी कार्य-प्रणाली पर। पश्चिम को अपनी समस्याएँ हल करनी हैं, और पूर्व को

अपनी; पर एक दूसरे से उन्हें हल करने के उपायों के संबंध में बहुत-कुछ सीख सकते हैं। दोनो एक दूसरे से ही ऐसी सहायता अनादि-काल से लेते भी आ रहे हैं। इधर सौ वर्षों में भारत ने अपने साहित्य-मंदिर का निर्माण करने में पाश्चात्य 'शिल्प-सूत्रों' से बहुत-कुछ लाभ उठाया है। इतिहास और विज्ञान में पाश्चात्य अनुसंधान-प्रणाली का अवलंबन इस बात का प्रमाण है। इस गद्य-पद्यमय काव्य की दिशा में उसका प्रभाव कम नहीं पड़ा है। सामयिक पत्रों के लेखों और टिप्पणियों, आधुनिक आख्यायिकाओं और उपन्यासों, बंगला के नवीन-नवीन छंदों और रचना-शैलियों का साँचा पश्चिम से ही इस देश में आया है। पर प्रत्येक साँचा हमारी हिंदी के काम का नहीं हो सकता। जिससे हमारे साहित्य का वास्तविक उपकार हो सकता है, उसे लाना और लोकप्रिय बनाना हमारा धर्म है।

## सम्मेलन

सज्जनो, हिंदी-साहित्य की समालोचना तो हो चुकी। अब सम्मेलन का सिंहावलोकन करता हूँ। यह सम्मेलन बंग, बिहार, युक्तप्रांत, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, और बंबई से विजय-वैजयंती उड़ाता वीरभूमि पंजाब में आ पहुँचा है। राजस्थान में राज्य स्थापन के बाद काश्मीर पर कब्जा करेगा। मदरास में भी मोर्चेबंदी हो रही है। मौका मिलते ही वहाँ भी जा मैदान मारेगा।

इसमें संदेह नहीं कि हिंदी-साहित्य-सम्मेलन से हिंदी-प्रचार में बड़ी सहायता मिली है। युक्तप्रांत की अदालतों में नागरी-अक्षरों

का जो कुछ थोड़ा-सा प्रचार है, और उनके कागज-पत्र नागरी में लिखे-पढ़े जाते हैं, इसका श्रेय सम्मेलन को ही है। यदि सम्मेलन स्थान-स्थान पर नागरी के लेखक नियत न करता, तो सरकारी सरकुलर यों ही पड़ा रह जाता। पर दुःख यह है कि सब हिंदी-भाषा-भाषी वकीलों से जैसी चाहिए, वैसी सहायता नहीं मिलती। इसके सिवा मदरास में हिंदी-प्रचार के लिये सम्मेलन ने पूरा प्रयत्न किया, और उसमें सफलता भी हुई। कई मदरासी लड़कों को सम्मेलन ने छात्रवृत्ति देकर प्रयाग में हिंदी-साहित्य की शिक्षा दी, और जब वे परीक्षोत्तीर्ण हुए, तो उन्हें मदरास में हिंदी-प्रचार के लिये वेतन देकर नियुक्त किया। यह सिलसिला कई वर्षों से जारी है। मदरास में हिंदी-प्रचार का कार्य अब भी चल रहा है। इसमें सम्मेलन ने मुक्तहस्त होकर व्यय किया, और कर रहा है।

प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा नाम की तीन परीक्षाएँ सम्मेलन की ओर से होती हैं। उत्तमा को हिंदी का एम्० ए० कहा जाय, तो कुछ अत्युक्ति नहीं; क्योंकि मध्यमा में प्रायः बी० ए० तक का कोर्स हिंदी में पढ़ा दिया जाता है। प्रतिवर्ष सैकड़ों परीक्षार्थी इन परीक्षाओं में सम्मिलित और उत्तीर्ण होते हैं। प्रयाग के सिवा भारत के प्रायः सभी बड़े-बड़े नगरों में इसके परीक्षा-केंद्र हैं। पर दुःख है, पंजाब में अब तक एक केंद्र भी वहाँ स्थापित नहीं हुआ। मध्यमा-परीक्षोत्तीर्ण 'विशारद', और उत्तमा में उत्तीर्ण 'रत्न' की उपाधि पाते हैं। सम्मेलन

केवल परीक्षा ही नहीं लेना, हिंदी की शिक्षा भी देना है। इसके लिये प्रयाग में हिंदी-विद्यापीठ की स्थापना हुई है।

सम्मेलन ने सुलभ पुस्तकमाला-प्रकाशन-विभाग भी खोल रक्खा है, जिसमें प्रायः सम्मेलन-परीक्षाओं की पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित हो सस्ते मूल्य में बिकती हैं।

सम्मेलन की ओर से 'सम्मेलन-पत्रिका' नाम की एक मासिक पत्रिका प्रकाशित होती है, जो इधर कुछ दिनों से समय पर निकलने लगी है। अब उसमें साहित्य-संबंधी समालोचनात्मक लेख भी रहते हैं। धन्यवाद है श्रीयुत वियोगी हरिजी को, जिन्होंने इसका श्रीगणेश किया है।

यह सब होने पर भी हिंदी-साहित्य-सेवी कहते हैं कि सम्मेलन ने साहित्य-संबंधी कोई महत्त्व-पूर्ण कार्य अभी तक नहीं किया है। करता कहाँ से? अभी तो उसने बारहवें वर्ष में पाँव ही रक्खा है। अब तक तो उसने केवल बाल-सुलभ चरित्र दिखलाकर अभिभावकों, प्रेमियों और हितैषियों का मनोरंजन किया है, और यही उचित भी था। बालक बाल्यकाल में खेलने-कूदने के सिवा और कुछ नहीं करते। सम्मेलन ने भी प्रचार के सिवा और कोई बड़ा काम नहीं किया। काम करने का समय तो अब आया है। आइए, इसका उपनयन-संस्कार करें। यदि आज इसका संस्कार न होगा, तो फिर यह ब्रात्य हो जायगा। इसलिये अब विलंब की आवश्यकता नहीं! शुभस्य शीघ्रम्!

सम्मेलन के नए युग का आरंभ आज से हो जाना चाहिए।

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के नाम को सार्थक और सफल बनाने के लिये पूरा प्रयत्न करना समस्त हिंदी-साहित्य-सेवियों, हिंदी-साहित्यानुरागियों और हिंदीसा-हित्य-रसिकों का आज प्रधान और प्रथम कर्तव्य है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि यह सम्मेलन हिंदी-भाषा का 'फ्रेंच एकेडेमी' ( Franch Acadmy ) बने। फ्रेंच एकेडेमी ने फ्रांसीसी भाषा का जिस प्रकार संरक्षण और नियंत्रण किया है, उसी प्रकार सम्मेलन भी हिंदी-भाषा का करे।

फ्रांस की राजधानी पेरिस के कुछ साहित्य-सेवियों के मन में साहित्य-चर्चा की तरंग उठी। बस, वह सप्ताह में एक बार एकत्र हो बारी-बारी से अपनी-अपनी नवीन रचना सुनाने और परस्पर आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगे। ५-६ साल तक यही सिलसिला जारी रहा। धीरे-धीरे इसकी खबर सम्राट् तक पहुँची। अंत में, सन् १६३५ ई० में, सम्राट् की आज्ञा से फ्रेंच एकेडेमी की विधिवत् स्थापना हो गई। फिर क्या था, दिन-दूनी रात-चौगुनी इसकी उन्नति होने लगी। अब तो यह फ्रांस की एक प्रधान संस्था है। इसका उद्देश्य फ्रांसीसी भाषा का संस्कार था। फ्रांसीसी भाषा की विशुद्धता का श्रेय फ्रेंच एकेडेमी को ही है। इसी के पूरे प्रयत्न से फ्रांसीसी भाषा के दुष्ट प्रयोग और ग्राम्य दोष दूर हुए, और वह संस्कृत एवं परिमार्जित हो गई। सज्जनो, कहने का तात्पर्य यह कि सम्मेलन 'फ्रेंच एकेडेमी' को आदर्श माने; पर उसकी संकीर्णता का अनुकरण न करे, और न उसकी तरह राजकीय संस्था हो जाय। एके-

"अंधकार है वहाँ, जहाँ आदित्य नहीं है;
है वह मुर्दा देश, जहाँ साहित्य नहीं है।"

वास्तव में बात भी ऐसी ही है। साहित्य-हीन राष्ट्र या जाति मुर्दे के समान है। साहित्य पर ही राष्ट्र का जीवन-मरण है। अतएव मातृभाषा के उद्धार के लिये भी पंजाबी भाइयों को उदासीनता त्यागकर कमर कसना चाहिए। माता के मंदिर में भेद-भाव नहीं है, और न पक्षपात। वहाँ जात-पाँत और छुआछूत का विचार नहीं है, और न वर्ण-भेद ही। वहाँ राजा, रंक, धनी, दरिद्र—सबको समान अधिकार और समान स्वतंत्रता है। सारस्वती की सेवा पर ही सबका समान स्वत्व है। इसलिये पंजाब के छोटे-बड़े, बालक-बूढ़े, नर-नारी, अमीर-ग़रीब, हिंदू-मुसलमान सिख-पारसी और ईसाई जाति-भेद, वर्ण-भेद तथा व्यक्ति-भेद को भूलकर जगज्जननी के पाद-पद्म में पुष्पांजलि प्रदान करने के लिये प्रस्तुत हो जायँ। सभी का एक उद्देश्य और एक लक्ष्य हो—सभी का एक ज्ञान और एक ध्यान हो—सभी का एक स्वर और एक तान हो—सभी का एक मन और एक प्राण हो। बस, यही मेरी विनीत प्रार्थना है।

भाइयो, हिंदी माता करुणा-भरी दृष्टि से पंजाब की ओर देख रही है। क्या आप लोग उसका दुख दूर न करेंगे? अवश्य करेंगे। आप सब गुण-संपन्न हैं—सब कुछ कर सकते हैं। पर इस विषय में आपकी उदासीनता देख आश्चर्य होता है। . . . यह दुख और लज्जा की बात नहीं कि मदरास, गुजरात ...

डेमी ने कोई रचनात्मक कार्य न कर केवल संरक्षण और निरीक्षण ही किया, पर सम्मेलन को उदारता-पूर्वक दोनों कार्य करना चाहिए।

सज्जनो, सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के समय दूर-दूर से हिंदी के विद्वान्, लेखक और कवि आते हैं; पर उनकी उपस्थिति का लाभ सम्मेलन नहीं उठाता, और न आने वालों की ज्ञान-पिपासा ही शांत होती है। फिर इस अधिवेशन से क्या लाभ? अधिवेशन के तीनों दिन प्रस्तावों में ही न बिताकर कुछ साहित्य-कार्य करना चाहिए। कम-से-कम एक दिन केवल साहित्य-चर्चा के लिये रहे, जिसमें विद्वान् लोग विवादग्रस्त विषयों की मीमांसा करें, और वही सम्मेलन की मीमांसा समझी जाय। इसके सिवा सम्मेलन वार्षिक अधिवेशन करके ही मौन न हो जाय,—[illegible] साल में १२ न सही, ६ उत्सव तो अवश्य करे।

तुलसीदास, सूरदास, हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण आदि के जन्मस्थानों के अतिरिक्त देहली, [illegible], कलकत्ता, [illegible] आदि स्थानों पर भी साहित्य-सेवियों का समारोह करना चाहिए। इससे जागृति और साहित्य की वृद्धि होती है। प्रचार के यह काम अधिक उपयुक्त और उचित प्रतीत होता है। आशा है, सम्मेलन इन सूचनाओं पर विशेष ध्यान देगा।

[illegible] बात और है। केवल पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित करने में न [illegible]। सम्मेलन को और भी आगे बढ़ना चाहिए। हिंदी के प्राचीन [illegible] [illegible]

की ओर ध्यान देना चाहिए। कैसे दुःख की बात है कि सूर, तुलसी, बिहारी प्रभृति के ग्रंथों का एक भी सटीक संस्करण दिखलाई नहीं देता, यहाँ तक कि तुलसी-कृत रामायण का शुद्ध और क्षेपक-रहित संस्करण भी दुर्लभ है—टीका-टिप्पणी की तो बात ही अलग है। क्या सम्मेलन यह कार्य हाथ में नहीं ले सकता? जब प्रचार के कामों में उसे हजारों की सहायता मिलती है, तो क्या इसके लिये नहीं मिलेगी? जरूर मिलेगी।

सम्मेलन की भाषा-शैली, वर्ण-विन्यास और वाक्य-रचना आदर्श होनी चाहिए। सम्मेलन का भाषा-संबंधी क्या सिद्धांत और कर्तव्य है, यह भी स्थिर हो जाना आवश्यक है।

सम्मेलन की परीक्षाओं का पाठ-क्रम भी सरकारी युनिवर्सिटियों की नकल पर ही बना है। भला, प्रथमावालों के लिये गणित की क्या जरूरत है? अल्पवयस्क बालकों के मस्तिष्क को फिजूल बातों से भरने की चाल जितनी जल्द दूर हो, उतना ही अच्छा। बालकों की सबसे बड़ी आवश्यकता है भाषा का ज्ञान। भाषा का ज्ञान हो जाने से वे चाहे जिस क्षेत्र में जायँ, उन्हें लिखने-बोलने में शब्दाभाव की कठिनता प्रतीत न होगी। मनुष्य अपने जीवन में जिस परिमाण में भाव-प्रकाशन की क्षमता दिखा सकता है, उसी परिमाण में उसे सफलता ` है। इँगलैंड में स्कूलों की पढ़ाई की जाँच करने के लिये जो कमेटी बैठी थी, उसने उस दिन अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि सबसे अधिक ध्यान इन स्कूलों को बालकों की अँगरेजी-शिक्षा

पर देना चाहिए; क्योंकि अच्छे-से-अच्छे लड़के का भाषा-ज्ञान आज उतना पूर्ण नहीं होता, जितना २०-२५ वर्ष पहले होता था। जब इँगलैंड की यह दशा है, तो भारतवर्ष का तो कहना ही क्या है! सम्मेलन को याद रखना उचित है कि अपरिपक्व मस्तिष्क के बालकों के लिये सूरदास के दो पदों का अर्थ जानना जितना आवश्यक और राष्ट्र के लिये हितकर है, उतना यह जानना नहीं कि एक में ३×३ ÷ २ कितनी बार शामिल है।

इन्हीं कारणों से सम्मेलन के अधिकांश 'विशारद' और 'रत्न' हिंदी पढ़ने-लिखने में वैसे ही कच्चे हैं, जैसे सरकारी स्कूल-कॉलिजों में तालीम पाए हुए हुआ करते हैं। अतएव सम्मेलन को उचित है कि शीघ्र ही पाठ-क्रम का परिवर्तन कर डाले। इसके सिवा उसे अपना नाम सार्थक करने के लिये साहित्य का संचालन भी करना चाहिए। इसी में उसकी शोभा है, और इसी से उसकी श्रीवृद्धि और उद्देश्य-सिद्धि होगी, अन्यथा नहीं। यह निश्चित है।

---

## उपसंहार

प्यारे भाइयो, अब आप लोगों से भी कुछ निवेदन है। आप जानते ही हैं कि वही राष्ट्र संसार में जीवित रह सकता है, [illegible] साहित्य जीवित है— जिसका साहित्य नहीं, उसकी [illegible] भी नहीं। परलोकगत राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने कहा

"अंधकार है वहाँ, जहाँ आदित्य नहीं है;
है वह मुर्दा देश, जहाँ साहित्य नहीं है।"

वास्तव में बात भी ऐसी ही है। साहित्य-हीन राष्ट्र या जाति मुर्दे के समान है। साहित्य पर ही राष्ट्र का जीवन-मरण है। अतएव मातृभाषा के उद्धार के लिये भी पंजाबी भाइयों को उदासीनता त्यागकर कमर कसना चाहिए। माता के मंदिर में भेद-भाव नहीं है, और न पक्षपात। वहाँ जात-पाँत और छुआछूत का विचार नहीं है, और न वर्ण-भेद ही। वहाँ राजा, रंक, धनी, दरिद्र—सबको समान अधिकार और समान स्वतंत्रता है। सरस्वती की सेवा पर ही सबका समान स्वत्व है। इसलिये पंजाब के छोटे-बड़े, बालक-बूढ़े, नर-नारी, अमीर-गरीब, हिंदू-मुसलमान सिख-पारसी और ईसाई जाति-भेद, वर्ण-भेद तथा व्यक्ति-भेद को भूलकर जगज्जननी के पाद-पद्म में पुष्पांजलि प्रदान करने के लिये प्रस्तुत हो जायँ। सभी का एक उद्देश्य और एक लक्ष्य हो—सभी का एक ज्ञान और एक ध्यान हो— सभी का एक स्वर और एक तान हो—सभी का एक मन और एक प्राण हो। बस, यही मेरी विनीत प्रार्थना है।

भाइयो, हिंदी माता करुणा-भरी दृष्टि से पंजाब की ओर देख रही है। क्या आप लोग उसका दुख दूर न करेंगे? अवश्य करेंगे। आप सब गुण-संपन्न हैं—सब कुछ कर सकते हैं। इस विषय में आपकी उदासीनता देख आश्चर्य होता है। यह दुख और लज्जा की बात नहीं कि मदरास, गुजरात

पर देना चाहिए; क्योंकि अच्छे-से-अच्छे लड़के का भाषा-ज्ञान आज उतना पूर्ण नहीं होता, जितना २०-२५ वर्ष पहले होता था। जब इँगलैंड की यह दशा है, तो भारतवर्ष का तो कहना ही क्या है! सम्मेलन को याद रखना उचित है कि भारतीय मस्तिष्क के बालकों के लिये सूरदास के दो पदों का अर्थ जानना जितना आवश्यक और राष्ट्र के लिये हितकर है, उतना यह जानना नहीं कि एक में $\frac{1}{2}\times\frac{1}{2}\div२$ कितनी बार शामिल है।

इन्हीं कारणों से सम्मेलन के अधिकांश 'विशारद' और 'रत्न' हिंदी पढ़ने-लिखने में वैसे ही कच्चे हैं, जैसे सरकारी स्कूल-कॉलेजों में तालीम पाए हुए हुआ करते हैं। अतएव सम्मेलन को उचित है कि शीघ्र ही पाठ-क्रम का परिवर्तन कर डाले। इसके सिवा उसे अपना नाम सार्थक करने के लिये साहित्य का संचालन भी करना चाहिए। इसी में उसकी शोभा है, और इसी से उसकी श्रीवृद्धि और उद्देश्य-सिद्धि होगी, अन्यथा नहीं। यह निश्चित है।

---

## उपसंहार

प्यारे भाइयो, अब आप लोगों से भी कुछ निवेदन है। आप जानते ही हैं कि वही राष्ट्र संसार में जीवित रह सकता है, जिसका साहित्य जीवित है— जिसका साहित्य नहीं, उसकी स्थिति भी नहीं। परलोकगत राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने क्या

"अंधकार है वहाँ, जहाँ आदित्य नहीं है;
है वह मुर्दा देश, जहाँ साहित्य नहीं है।"

वास्तव में बात भी ऐसी ही है। साहित्य-हीन राष्ट्र या जाति मुर्दे के समान है। साहित्य पर ही राष्ट्र का जीवन-मरण है। अतएव मातृभाषा के उद्धार के लिये भी पंजाबी भाइयों को उदासीनता त्यागकर कमर कसना चाहिए। माता के मंदिर में भेद-भाव नहीं है, और न पक्षपात। वहाँ जात-पाँत और छुआछूत का विचार नहीं है, और न वर्ण-भेद ही। वहाँ राजा, रंक, धनी, दरिद्र—सबको समान अधिकार और समान स्वतंत्रता है। सरस्वती की सेवा पर ही सबका समान स्वत्व है। इसलिये पंजाब के छोटे-बड़े, बालक-बूढ़े, नर-नारी, अमीर-ग़रीब, हिंदू-मुसलमान सिख-पारसी और ईसाई जाति-भेद, वर्ण-भेद तथा व्यक्ति-भेद को भूलकर जगज्जननी के पाद-पद्म में पुष्पांजलि प्रदान करने के लिये प्रस्तुत हो जायँ। सभी का एक उद्देश्य और एक लक्ष्य हो—सभी का एक ज्ञान और एक ध्यान हो— सभी का एक स्वर और एक तान हो—सभी का एक मन और एक प्राण हो। बस, यही मेरी विनीत प्रार्थना है।

भाइयो, हिंदी माता करुणा-भरी दृष्टि से पंजाब की ओर देख रही है। क्या आप लोग उसका दुख दूर न करेंगे? अवश्य करेंगे। आप सब गुण-संपन्न हैं—सब कुछ कर सकते हैं। पर इस विषय में आपकी उदासीनता देख आश्चर्य होता है। क्या यह दुख और लज्जा की बात नहीं कि मदरास, गुजरात और

बंबई में तो हिंदी का प्रचार हो, और पंजाब पीछे रहे ! अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। अभी समय है। आइए, हिंदी के लिये तन-मन-धन अर्पण करने की प्रतिज्ञा कीजिए।

बहनो, आओ तुम भी सहायता करो। यह मैं जानता हूँ कि आजकल पंजाब में जो कुछ थोड़ी-सी हिंदी की चर्चा है, उसमें तुम्हारा भी हाथ है।। पर इतने से ही संतोष कर लेना उचित नहीं। और भी कुछ करो। भावी संतान की शिक्षा-दीक्षा तुम्हारे ही ऊपर है। तुम उन्हें चाहे जैसा बना सकती हो। जहाँ तक बने, विदेशी भाव और भाषा की छूत से उन्हें बचपन से बचाओ। हिंदी का प्रेम उनमें जगाओ—स्वयं पढ़ो, और उन्हें पढ़ाओ।

प्यारे नवयुवको, तुमसे भी कुछ कहना है। मुझे तुम्हारा ही भरोसा है। इसी से तुमसे कहता हूँ। पंजाब की लज्जा तुम्हारे हाथ है। पंजाब में हिंदी का प्रचार जैसा चाहिए, वैसा अब तक नहीं हुआ है। यह पंजाब के लिये बड़े कलंक की बात है। तुम चाहो, तो इस कलंक को शीघ्र दूर कर सकते हो। मातृभाषा राष्ट्रभाषा हिंदी की सेवा करना तुम्हारा परम धर्म है। इससे विमुख मत हो। उठो—कमर कसो। इसकी सेवा में . भी जायँ, तो परवा न करो। सिंह होकर शृगाल बनने चेष्टा मत करो। सिंह को जंगल का राजा किसने बनाया ! लिये न दरबार हुआ, और न जुलूस निकला; पर वह कहलाता है। सिंह अपने बाहु-बल से मृगेंद्र बना है।

तुम भी माता के सच्चे सुपूत बनो, और माता का भाषा-भांडा ज्ञान-विज्ञान से भर दो। और क्या-क्या करना है, वह भी सुन लो—

(१) तुमने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है या करोगे, उसे हिंदी द्वारा अपने देशवासियों को बाँट दो। जहाँ जो अच्छी बातें मिलें, उन्हें अपनी भाषा में ले आओ। जापानी अँगरेजी पढ़ते हैं, और उसमें जो कुछ काम की चीज पाते हैं, उसे जापानी भाषा में उल्था कर लेते हैं। इससे जापानी-साहित्य दिन-दिन उन्नत होता जाता है। बंगाली, गुजराती और मरहटों ने भी यही करके अपने-अपने साहित्य की श्रीवृद्धि की है, और कर रहे हैं। तुम्हें भी यही करना चाहिए।

(२) जिस तरह कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने एम्० ए०-परीक्षा में बँगला, हिंदी आदि देशी भाषाओं को स्थान दिया है, उसी प्रकार पंजाब-विश्वविद्यालय की एम्० ए०-परीक्षा में भी हिंदी को स्थान दिलाओ। कलकत्ता-विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर, कलकत्ता-हाईकोर्ट के जज सर आशुतोष मुकर्जी, सरस्वती, भी चाहते हैं कि भारत की सब युनिवर्सिटियों में एम्० ए० की परीक्षा देशी भाषाओं में हो। हवड़ा-साहित्य सम्मेलन के सभापति होकर आपने अपने भाषण में कहा था—"बंबई, मदरास, पंजाब, इलाहाबाद प्रभृति स्थानों के विश्वविद्यालयों को देशी भाषा में एम्० ए० की परीक्षा चलानी होगी। केवल बंगाल में चलाने से पारस्परिक फल Reciprocal की संभावना बहुत

थोड़ी है।" इसलिये पूरा प्रयत्न करो, जिसमें केवल एम्० ए० की ही परीक्षा में हिंदी को स्थान न मिले, बल्कि सब परीक्षाओं में ही हिंदी का बोलबाला रहे।

(३) हिंदी-भाषा के प्रचार के लिये स्थान-स्थान पर पुस्तकालय, वाचनालय खोले जायँ। आरंभिक शिक्षा हिंदी में दी जाय, और नगर-नगर और गाँव-गाँव में विद्यापीठ खोले जायँ।

(४) अदालतों में नागरी-अक्षर और सरल हिंदी जारी हो, जो सबकी समझ में आसानी से आ जाय।

(५) बहीखाते नागरी-अक्षरों में लिखे जायँ, जिससे लिखने-पढ़ने में सुबीता हो।

(६) आर्यसमाज, सनातनधर्म-सभाओं और प्रांतीय परिषदों में हिंदी-भाषा का व्यवहार तो होना ही है। इसके प्रचार की ओर भी इन्हें ध्यान देना चाहिए।

(७) हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं का पूर्ण प्रचार हो, जिसमें पंजाबी बड़ी संख्या में परीक्षाओं में प्रतिवर्ष सम्मिलत हुआ करें।

(८) अँगरेज़ी पढ़े लोगों को आपस में सदा हिंदी बोलना और हिंदी में ही पत्र-व्यवहार करना चाहिए। अपनी भाषा के रहते दूसरी भाषा से काम लेना बड़ी ही लज्जा की बात है।

(९) विहार, युक्तप्रांत और मध्यप्रदेश में जिस प्रकार प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन स्थापित हो· अपने-अपने प्रांत

में हिंदी का प्रचार और उपकार कर रहे हैं, उसी प्रकार पंजाब में भी प्रांतीय सम्मेलन की स्थापना होनी चाहिए।

सज्जनो, यह कोई असंभव काम नहीं है। यदि हो भी, तो पुरुषार्थ से उसे संभव बना देना हमारा धर्म है। जिस देश के साहित्य में अर्जुन के पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने का वर्णन है, जिस देश के साहित्य में प्रह्लाद के सामने खंभे से नृसिंह भगवान् का आविर्भूत होना लिखा है, जिस देश के साहित्य में हनूमानजी का समुद्र लाँघ जाना वर्णित है, उस देश के निवासियों के लिये असंभव या असाध्य कुछ नहीं है। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत प्रभृति जिनके आदर्श ग्रंथ,—सीता, सावित्री अरुंधती, लोपामुद्रा जिनकी आदर्श सती नारियाँ,—राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, शिवि, दधीचि, भीष्म, अर्जुन जिनके आदर्श पुरुष,—भरत, लक्ष्मण, भीम, जिनके आदर्श भ्राता हैं, उन्हें किस बात का अभाव है? उत्साह से उठिए और राष्ट्रभाषा हिंदी का हित-साधन कीजिए, जिससे स्वराज्य का सुमार्ग सुगम हो जाय।

सज्जनो, भाषण समाप्त करने के पहले यह निवेदन करना उचित समझता हूँ कि आप लोगों ने आज जो सम्मान और स्वागत किया, वह मेरा नहीं, सरस्वती-सेवक और साहित्य-सेवी का है। मैं तो निमित्त-मात्र हूँ। आपकी इस कृपा और दया के लिये वारंवार धन्यवाद दे परब्रह्म परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग सरस्वती-सेवकों और हिंदी-साहित्य-सेवियों का सम्मान और स्वागत सदैव इसी तरह किया करें।

सज्जनो, पहली बार पंजाब में जब सम्मेलन निमंत्रित हु
था, तब मैंने पंजाबी भाइयों के लिये कुछ पद्य-रचना की थी
दैव-दुर्विपाक से उस समय सम्मेलन पंजाब में न पहुँच सक
बस, मेरी लालसा पर भी पाला पड़ गया। अखिलेश्वर अंतर्या
के असीम अनुग्रह से आज यह आनंदमय अवसर—सुख
सुंदर शुभ समय—मंगलमय मधुर मुहूर्त मिल गया है। व
पुराना पद्य पढ़ भाषण समाप्त करता हूँ। पूर्ण आशा है, प्या
पंजाब-निवासी मेरी प्रार्थना पूरी करने में कभी पीछे पैर न देंगे

भक्ति-सहित निज इष्टदेव को करि आराधन;
उठो, उठो प्रिय-बंधु करो हिंदी-हित-साधन।
हम हिंदी के पुत्र, हमारी हिंदी माता;
हिंदू - हिंदी - हिंद नाम को निरखौ नाता।
हिंदू हिंदी त्यागि बनत जो इँगलिस-दासा;
सो निज हाथन करत आप है अपनो नासा।
कुल-मरजादा लखौ और निज रूप निहारौ;
कटि कसिकै बस उठौ, बेगि हिम्मत मत हारौ।
धन-बल-गौरव-मान-सुजस सब भए तिरोहित;
आरज-कुल की गरिमा केवल अजहुँ प्रकाशित।
आर्यवंस-संतान अजहुँ हम लोग कहावत :
आर्यवंस कौ रक्त अजहुँ नस-नस मैं धावत।
वही वेद-उपनिषद, वही सब ग्रंथ पुरातन;

वही विन्ध्य-गिरिराज, वही हिमशैल सुहावन ;
वही गंग औ जमुन, वही सरजू-जल पावन ।
पृथिवी वही पवित्र, वही नभ-मंडल तारे ;
फिर हम सब क्यों रहैं मौन ह्वै मन कौं मारे ।
करि-करि नव उत्साह उठौ सब हिंदी-भाषी ;
हिंदी कौं अपनाय मिटावौ दुख की रासी ।
बहुत दिनन लौं भूले-भटके, अब जिन भूलौ ;
करि त्रिशंकु को नकल बीच में मत अब झूलो ।
खड़ी-पड़ी औ अड़ी-गड़ी बोलिन को रगरौ ;
करौ न कबहूँ भूलि जानि यह झूठो झगरौ ।
हिंदू-आरज नामन कौं झगरौ मत ठानौ ;
जगन्नाथ की कही भला इतनी तो मानौ ।
नाम माहिं कछु नाहिं, काम करिकै दिखराओ ;
हिंदी को परचार यहाँ पर तुरत कराओ ।
वीरभूमि पंजाब माँहि हिंदी है आई ;
पंजाबिन कौं उचित अवस वाकी सेवकाई ।
भए उपस्थित आज यहाँ पै जो सब भाई ;
करैं प्रतिज्ञा अटल यही निज भुजा उठाई ।
हिंदी में हम लिखैं-पढ़ैं, हिंदी ही बोलैं ;
नगर-नगर में हिंदी के विद्यालय खोलैं ।
हिंदी के हित चिंतन में नित ही चित देहैं ;
लिभू कबहुँ नहिं इँगलिश को हम नामहुँ लैहैं ।